श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेंट —

शेखरचन्द्र सकसेना के प्रबन्ध से, एजूकेशनल प्रेस, बीकानेर में मुद्रित

हमारे यहां से प्रकाशित

जवाहर साहित्य की सूची

नं०	नाम	विषय	मूल्य
	श्री जवाहर किरणावली		
१	प्रथम किरण	दिव्य दान	१।)
२	द्वितीय ,,	दिव्य-जीवन	१)
३	तृतीय ,,	दिव्य-संदेश	१।)
४.	चतुर्थ ,,	जीवन-धर्म	१॥)
५.	पांचवीं ,,	सुबाहुकुमार	१॥।)
६.	छट्ठी ,,	रुक्मिणी विवाह	॥।)
७	सातवीं ,,	श्रावणमास के व्याख्यान	२)
८	आठवीं ,,	सम्यक्त्व-पराक्रम (प्रथम भाग)	१।)
९	नवीं ,,	सम्यक्त्व-पराक्रम (दूसरा भाग)	१॥)
१०.	दसवीं ,,	सम्यक्त्व-पराक्रम (तीसरा भाग)	१।)
११.	ग्यारहवीं ,,	सम्यक्त्व-पराक्रम (चौथा भाग)	॥।)
१२	बारहवीं ,,	सम्यक्त्व-पराक्रम (पांचवा भाग)	॥।)
१३	तेरहवीं ,,	धर्म और धर्मनायक	२)
१४	चौदहवीं ,,	राम वन-गमन (प्रथम भाग)	१।)
१५.	पन्द्रहवीं ,,	राम वन-गमन (द्वितीय भाग)	॥।)
१६.	सोलहवीं ,,	अंजना	१)

प्रकाशकीय निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक अनाथ भगवान् का द्वितीय खण्ड है। पहले अनाथ भगवान् को एक ही जिल्द में प्रकाशित करने की इच्छा थी ताकि प्रकाशन व्यय अधिक न हो पर पुस्तक के विस्तार को देखते हुए यह अनुचित प्रतीत हुआ एतदर्थ अनाथ भगवान् के दो खण्ड कर दिये। इस द्वितीय खण्ड को अल्प समय में ही आपके करक-मलों में पहुँचाते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

अर्थ और विज्ञान की बहु-मुखी उन्नति और प्रगति के पश्चात् आज भी मानव का हृदय टीस, वेदना और पीड़ा से कराह रहा है। वह यह स्पष्ट अनुभव करता है कि शांति के नाम पर ज्वालामुखी पर्वत के मुंह पर बर्फ की एक परत, एक तह जमाई जा रही है, पर यह कहां तक मानव मन को कुरेदने वाली अशांति को दूर कर सकेगी? ज्वालामुखी का विस्फोट होकर रहेगा और उसमें जो प्रलय का दृश्य उपस्थित होगा, बहुत संभव है कि उस दर्दनाक विनाश पर आंसू बहाने वाला भी न मिलेगा। अपने चन्द स्वार्थों की प्राप्ति के लिये अपने आपको शक्ति-सम्पन्न, समृद्धिशाली एवं विश्व का नियन्ता समझ कर जो खाई वह खोदने जा रहा है, दूसरों के साथ वह स्वयमेव भी उस विनाश के गर्त में समाप्त हो जायगा।

अपने ही द्वारा फैलाये गये जाल अथवा गोरख-धन्धे में फंस कर मानव बुरी तरह छटपटा रहा है। वह मार्ग चाहता है पर प्रभूत तम तोम के कारण उसकी दृष्टि निराश लौट पड़ती है। ऐसे संक्रामक काल में महामना पूज्य-श्री जवाहराचार्य का साहित्य ही एक मात्र मार्ग-दर्शक बन सकता है। मार्ग में भटके हुए पथिक, समुद्र में खोये हुए जहाज के लिये प्रस्तुत पुस्तक आलोक स्तम्भ है जो अविकल; निराशा के राशि-राशि अन्धकार को निगल कर पथ को प्रकाशित कर मार्ग-दर्शन करेगी। सान्ध्य नक्षत्र की तरह अनाथ भगवान् जीवन में आलोक भरेगी, इस दृढ़ आत्मविश्वास के आधार पर यह पुस्तक आपके कर कमलों में पहुँचा रहे हैं।

इस भाग का प्रकाशन भी प्रसिद्ध दानवीर सेठ स्वर्गीय श्री इन्द्रचंद जी गेलड़ा की पुण्य स्मृति में उनकी धर्मनिष्ठा धर्मपत्नी की ओर से हो रहा है। हम उनके इस महान् सहयोग का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं एवं हम अपनी तथा पाठकों की ओर से अनेकशः धन्यवाद देते हैं।

इसकी प्रस्तावना लिखने का जो कष्ट विद्वद्वर पण्डित सुशील मुनि साहित्यरत्न, शास्त्री ने किया है उसके लिए हम आपके आभारी हैं।

निवेदक

भीनासर — चम्पालाल बांठिया

५-३-५५ — मंत्री, श्रीजवाहर साहित्य समिति

प्रस्तावना

आचार्य जवाहर भारतीय सन्त परम्परा के एक उदीयमान नक्षत्र थे। उनकी वाणी मे त्याग का ओज, मनन का गाम्भीर्य तथा तत्व दर्शन का अमिट सत्य था। वह एक साहित्य स्रष्टा, प्रखर वक्ता तथा गंभीर विचारक ही नहीं अपितु एक संस्था थे। राष्ट्र, समाज तथा धर्म की त्रिवेणी भी उनके पुष्कल एवं अगाध ज्ञान राशि का सम्बल पाकर अविकल रूप से उर्जस्वित हो प्रवाहित थी।

उनके विचारों में भविष्य, जीवन में अतीत और वक्तृत्व में वर्तमान का अपूर्व किन्तु समुज्वल सामञ्जस्य था। सन्त संस्कृति के सदेशवाहक आचार्य जवाहिर ने उत्तर पश्चिम भारत पर अहिंसा का नवीन स्मारक खड़ा किया था, भारत के इस भू भाग पर बसने वाली शालीन जनता के दिलों पर आचार्य देव का शासन था। उनकी अप्रतिहत वाक्शक्ति विवेच्य विषय को अक्षरों का विन्यास देकर साकार चित्र खड़ा कर देती थी और श्रोतागण अवाक्, मन्त्र-मुग्ध हो अनायास ही झूम झूम उठते थे। महात्मा गांधी, सरदार पटेल, कस्तूर बा आदि राष्ट्रीय सन्त भी उनकी वाणी के अलौकिक पर अमिट प्रभाव से सराबोर थे। यही नहीं उनकी प्रतिभा के स्पर्श

से सहज स्फुरित उपदेश जन जन के जीवन को सुधासिक्त कर संयम एवं कल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर करते थे।

मै मानता हूँ कि भारत की संस्कृति संत संस्कृति रही है। भले ही यहां भद्र संस्कृति के भोगोन्मुख लोगों ने कितना ही आतङ्क और विलास की चमक पैदा की हो किन्तु सन्तों के त्याग के आकर्षण के आगे यहां कभी भी भोग का शासन स्थापित नहीं हो सका है।

जैनागम संत अथवा श्रमण संस्कृति के अमर उद्गारों का संग्रह है और फिर मूल उत्तराध्ययन शास्त्र का २० वां अध्याय तो संत और भद्र संस्कृति का साक्षात् प्रतीक ही है। अनाथ और सनाथ का निर्णय भोग पर नहीं त्याग के आधार पर हो सकता है, इस तथ्य का यह अध्याय ज्वलन्त उदाहरण है। भद्र संस्कृति का प्रतिनिधि मगध सम्राट बिम्बसार और संत संस्कृति का एक मात्र प्रतिनिधि अनाथी मुनि-ये दो पात्र इतने सक्षम और सफल रूप से अवतरित हुए हैं कि इस संवाद ने विश्व भर की विचारधारा को त्याग की ओर उन्मुख कर दिया है।

मै विश्वास करता हूँ कि जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने रावणत्व पर रामत्व की विजय करवा कर मानव जाति को साहस और प्रेरणा का सम्बल प्रदान किया था, ठीक उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सनाथ अनाथ संवाद के आधार पर आचार्य प्रवर जवाहर ने संत संस्कृति की ध्वजा भद्र संस्कृति पर प्रतिष्ठित की है। विलास एवं भोग प्रमुख पतनोन्मुख भद्र

संस्कृति का इन्दु अस्त हो चला एवं संत संस्कृति की विमल पताका फहराता हुआ जाज्वल्यमान दिनकर अपनी रजत रश्मियों से निखिल संसृति को आलोकित करने लगा।

भोगों का गुलाम, वासनाओं का दास, पदार्थों का आसक्त भोगाकुल मानव कभी भी नाथ नहीं हो सकता, नाथ-स्वामी, तो केवल अनासक्त, आत्मदर्शी विरक्त आत्मा ही लोक-त्रय का सम्राट कहलाने का अधिकारी हो सकता है। बस यही अमर संदेश इस अध्याय में प्रतिपादित किया गया है।

आज के भौतिक प्रधान युग में ऐसे सांस्कृतिक विज्ञान की आवश्यकता थी जो अशांति के भीम भयंकर कोलाहल में तड़फते हुए विषम मानव जीवन को राहत दे सके तथा विश्व के वक्षस्थल पर लगे हुए घावों पर मरहम लगा सके, इसी अभाव की पूर्ति सन्त परम्परा के सेनानी आचार्य जवाहर ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के सुनहले, रुपहले भाषा चित्रों से की है। जनता इन्हें भाषण कहती है और मैं इन्हें संस्कृति का मुखर गान मानता हूँ। संस्कृति के इन गीतों मे लय है, प्रवाह है, ओज है और है मृदुल भावमय प्राञ्जल स्पष्टता। महामहिम मनस्वी जवाहर ने प्रबुद्ध चितेरे सदृश उज्ज्वल चेतना को जीवन के चित्रफलक पर साकार, सवाक् अङ्कित किया है साथ ही चित्रवर्णी तूलिका से परमात्मा तथा आत्मा के साक्षात्कार का अत्यन्त सजीव एव भास्वर चित्र उतारा है जो पुस्तक के प्रति शब्द में मुखर मुखर है।

जो पव्वइत्ताणं महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बंधणं से ॥३६॥

अर्थात्— जो पुरुष महाव्रतों को धारण करने की प्रतिज्ञा करके भी प्रमाद के वशीभूत होकर सम्यक् प्रकार से उनका पालन नहीं करता, जो अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं करता और रसलोलुप होता है, वह अपने बन्धन का समूल उच्छेदन नहीं कर सकता।

व्याख्यान:— मुनि कहते हैं—राजन्! गृहस्थावस्था में रह कर व्यवहार दृष्टि से जो आरम्भी तथा परिग्रही है, वह तो अनाथ है ही, किन्तु गृहस्थावस्था तथा आरंभ-परिग्रह से छूटकर और साधु होकर भी जो निरारम्भता और निष्परिग्रहता का पालन नहीं करता, वह भी अनाथ ही है। यह अनाथता किस प्रकार की होती है, इसे मैं समझाता हूँ। चित्त को एकाग्र करके सुनो।

चित्त की एकाग्रता क्यों अपेक्षित है, यह बात पहले कही जा चुकी है। जो वस्तु स्वरूप कहा जा रहा है, उसे समीचीन रूप मे समझने के लिए चित्त का एकाग्र होना अत्यन्त आवश्यक है।

पाँच और पाँच दस होते हैं, यह सभी को मालूम है। कोई विलायत जाकर और उच्च उपाधि लेकर आया हो और कहे कि पाँच और पाँच ग्यारह होते हैं तो क्या आप मान जाएँगे? नहीं, क्योंकि उसका कथन आपके अनुभव से विरुद्ध है।

मुनि कहते हैं —इसी प्रकार मै जो कहता हूँ, उस पर विश्वास रख कर तुम इस बात को सुनो।

राजन्! बहुत से लोग ऐसे कायर होते हैं जो निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके बाद में फिर अनाथता में पड़ जाते हैं और दुःख पाते हैं।

अनाथ मुनि कह चुके हैं कि कायर जन सयम में दुःख का अनुभव करते हैं। अतएव सयम न पालने वालों को यही विचार करना चाहिए कि जो वास्तव में सयम का पालन करते हैं, वे धन्य हैं, उनकी बलिहारी है। कोई-कोई लोग घोडे को काबू मे न रखने के कारण नीचे गिर पड़ते हैं। अतएव उन गिरनेवालों को यही देखना चाहिए कि घोडे से न गिरने वाले अपने घोडे को काबू में रख कर किस प्रकार यथास्थान पहुँच जाते हैं? इसी प्रकार सयम का पालन न कर सकने वालों को भी सोचना चाहिए कि संयमी जन किस प्रकार सयम का पालन करते हैं।

आप लोग अनाथता की बातें व्यवहार मे जल्दी देख लेते और अपना लेते हैं, परन्तु सनाथता की बात को नहीं देख पाते। आप देखते हैं कि भूत या भवानी की सौ-पचास आदमी मनौती मनाते हैं। उनमें से एक-दो की अभि-लाषा पूरी हो जाती हैं और शेष को निराश होना पडता है, परन्तु वह एक दो आदमी, जिनकी अभिलाषा पूर्ण हो गई है; उन शेष को नहीं देखते जो निराश हुए हैं। वे अपनी अभिलाषा पूर्ण हुई है, इसी कारण बाजा बजवाते हैं और अपनी सफलता का ढिढोरा पीटते हैं और मनौती मनाते ही रहते हैं। इस प्रकार भूत-भवानी की उपासना करने वालों में इतनी दृढ़ता होती है, किन्तु आप लोगों में इतनी दृढता नहीं होती। जो संयम का पालन करते हैं, उन्हें तो आप देखते नहीं, किन्तु जो संयम से पतित हो

जाते हैं, उनका सन्मान करते हैं। ऐसा करना क्या भूत-भवानी के भक्तों से भी गया-बीता कर्म नहीं है? खैर, आप माने या न माने, परन्तु मुनियों पर तो यह उत्तरदायित्व है ही कि वे संयम का बराबर पालन करें और निर्ग्रन्थ धर्म से पतित होकर, 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' जैसी गति न होने देने का ध्यान रक्खें।

प्रश्न हो सकता है कि निर्ग्रन्थ धर्म में ऐसा क्या दुःख है कि आत्मा संयम धारण करके फिर उससे पतित हो जाता है? आखिर कोई न कोई दुःख तो होना ही चाहिए, जिसे सहन न कर सकने के कारण कई लोग निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार कर के पुनः गिर जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कतिपय मनुष्य अच्छे कार्यों मे भी दुःख का अनुभव करते हैं और उन्हें आरंभ करके भी बीच में छोड़ भागते हैं। कल्पना कीजिए—कोई कहता है कि यहाँ से पचास कोस की दूरी पर धन का खजाना है। जो वहाँ जायगा उसे वह खजाना मिल जायगा।

खजाने का लोभ किसे नहीं होता? धन पाने की आशा से बहुत लोग चल पडे, परन्तु कुछ लोग लक्ष्य तक पहुँचे और कुछ थक कर आधे रास्ते से ही वापिस लौट आए।

इसी प्रकार कुछ मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति के लिये संयम धारण करते हैं; परन्तु उनमें से भी कुछ ही लोग यथा-स्थान पहुँचते हैं और कितने ही लोग मार्ग में ही थक कर या प्रलोभनों से भ्रष्ट हो कर विमुख हो जाते हैं। किन-किन कारणों से लोग संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं, इस विषय पर ज्ञाता-सूत्र में खूब विस्तार के साथ विचार किया गया है और एक उदाहरण भी दिया गया है। वह उदाहरण इस प्रकार है:—

धनावह नामक एक सेठ था। वह नाम का ही सेठ नहीं था, वरन् प्रजा का दुःख दूर करने मे अपनी सेठाई का उपयोग करता था। वास्तविक सेठ वही है जो दूसरों का दुःख दूर करे और दूसरों पर कृपाभाव रखे।

सेठ ने एक बार नगर में ढिंढोरा पिटवाया—मैं सार्थ निकालना चाहता हूँ। जो भी चाहे, मेरे साथ चल सकता है। रास्ते मे सब व्यवस्था मैं करूँगा। भोजन पानी, कपड़ा-लत्ता आदि सब मैं दूँगा और कमाई करने के लिए किसी को पूंजी की आवश्यकता होगी तो वह भी दूँगा।

भला ऐसा अवसर कौन चूकना चाहता है? बहुतेरे लोग सेठ के साथ जाने को तैयार हुए। सेठ ने सार्थ तैयार किया और सब व्यवस्था करके रवाना हुआ। चलते-चलते रास्ते में एक बड़ा जगल आया। सेठ ने सार्थ के सब लोगों से कहा— आप सब का उत्तरदायित्व मेरे सिर पर है, अतएव मै आपको एक सूचना करना चाहता हूँ। उस पर आप सब को विशेष ध्यान रखना होगा। सूचना यह है—

"इस जगल मे नन्दीफल नामक वृक्ष हैं। वे देखने में बड़े ही सुहावने प्रतीत होते हैं। उनकी गंध भी मोहक है और छाया भी शीतल है। वृक्ष इतने आकर्षक हैं कि मनुष्य बलात् उनकी ओर खिंच जाता है। उनके फल भी देखने में अत्यन्त सुन्दर और खाने में बहुत मीठे हैं। मगर उन फलों को खाने से परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। जो उन्हें खाता है, प्राणों से हाथ धो बैठता है। सत्य यह है कि वे फल 'मीठा विष' हैं। अतएव आप सब सावधान रहें। कटुक विष से बचना सरल है, किन्तु मधुर विष से बचना बहुत कठिन है। अतएव आप लोग वृक्ष की सुन्दरता से, छाया की शीतलता से या फल की स्वादिष्टता से लोभ में

न पड जाएँ। मेरा कहा मान कर मेरे पीछे-पीछे चले आओगे तो सुख-पूर्वक जंगल को पार कर सकोगे और यदि मेरी बात न मानी, फलों के लोभ मे पड गये तो रास्ते मे मरण-शरण होना पडेगा इसलिए नन्दीवृक्ष के फलों के प्रलोभन में मत पडना। मेरी इस सूचना को खासतौर से ध्यान मे रखना।"

इस प्रकार सब को सावधान करके सेठ आगे चला। जो लोग सेठ के कथन पर विश्वास रखकर उसके अनुसार चले और फलों के प्रलोभन मे नही पडे वे उस भयंकर जगल को सकुशल सुखपूर्वक पार करने में समर्थ हुए। मगर कुछ लोग ऐसे भी थे, जो सेठ को पगला कहने लगे और वृक्ष की सुन्दरता, छाया की शीतलता तथा फलों की मधुरता देख ललचा गये। उन्होंने सेठ की बात नहीं मानी और फल तोड़ कर खा गये। फल खाते ही उनकी नसें खिचने लगी, तब उन्हें सेठ की शिक्षा याद आई। किन्तु फिर 'फिर पछताये होत का चिड़ियाँ चुग गई खेत।' विषैले फल खा लेने के पश्चात् सेठ की सूचना याद आने पर भी कोई लाभ नहीं हो सकता था। वे लोग अपनी लोलुपता के शिकार हो गये।

विचारणीय बात यहाँ यह है कि सेठ ने खान-पान, कपड़ा-लत्ता आदि की व्यवस्था कर दी थी। इसके अतिरिक्त जगल के नन्दीफल खाने की मनाई भी कर दी थी। फिर भी उन लोगों ने सेठ की बात पर विश्वास नहीं किया और नन्दीफल का आस्वादन किया। यदि विचार किया जाय तो इसका कारण उन लोगों की कायरता ही है। कायरता के वशीभूत होकर ही उन्होंने जान-बूझ कर भूल की और अन्तत. उन्हे अपनी भूल का भोग होना पड़ा। इसके विपरीत जो लोग वीर थे, उन्होने सेठ के

कथन पर विश्वास किया। उन्होंने नन्दीफल से बचकर सुखपूर्वक जंगल को पार किया।

यह उदाहरण देकर भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं— 'मैं सब का सार्थवाह हूँ। मेरे अनुयायी-जन अगर मेरे पीछे-पीछे चलते चलें और मेरे कथन की उपेक्षा न करें तो मैं सब को सकुशल संसार-अटवी से पार पहुंचा कर मोक्ष रूपी मंजिल पर पहुँचा दूँ। मगर यह तभी संभव है, जब साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका सब मेरे आदेशों का पालन करें। जो नन्दीफल के समान संसार के प्रलोभनों में पड़ जायगा और अपने आपको संयम में न रख कर रस-लोलुपता के जाल में फँस जायगा, वह संसार-अटवी के पार नहीं पहुँच सकेगा और दुःख का भागी होगा।'

यद्यपि भगवान् महावीर जैसे महान् त्यागी, परम वीतराग और सर्वज्ञ पुरुष के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, फिर भी कतिपय लोग खान पान की लालसा में और मौज-मजे में पड़ कर भगवान् के आदेशों का उल्लंघन करते हैं। अनाथी मुनि के कथनानुसार ऐसे लोग कायर हैं और अपनी कायरता के कारण ही वे अनाथ बन कर दुःखों के पात्र बनते हैं।

जिस प्रकार सेठ के त्याग और औदार्य को दृष्टि में रख कर सार्थ के लोगों को उसकी बात पर विश्वास करना चाहिए था, उसी प्रकार भगवान् के अपूर्व त्याग-वैराग्य के कारण भगवान् पर भी पूर्ण विश्वास करना चाहिए। फिर भी जो लोग सेठ को ऊपर-ऊपर से तो 'सेठजी, सेठजी' कहते हैं, परन्तु उनकी वाणी को मानते नहीं हैं, उनकी रक्षा करने में सेठ समर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऊपर-ऊपर से 'भगवान्-भगवान्'

करने वाले, किन्तु व्यवहार में उनकी आज्ञा न मानने वाले लोगों की भगवान् भी रक्षा नहीं कर सकते। भगवान् के तो वही हैं जो भगवान् की आज्ञा मानकर नन्दीफल के समान विषमय काम-भोगों का त्याग करते हैं।

यह तो साधुओं की बात हुई। परन्तु आप श्रावक भी अपने विषय में विचार कीजिए। आप क्या कर रहे हैं? आप कहते हैं—नाटक सिनेमा वगैरह में बड़ा आनन्द है, फिर भी क्यों उसका त्याग कराया जाता है? परन्तु जिस त्याग के कारण तुम्हारा गार्हस्थ्य जीवन संकुचित बनता हो अथवा निभ न सकता हो, उस त्याग की निन्दा करो तो कुछ समझ में भी आ सकता है; किन्तु जिस त्याग के अभाव में तुम्हारा जीवन अधिकाधिक बिगड़ता जाता है, उस त्याग को अपनाना कैसे बुरा कहा जा सकता है? जो वस्तु नन्दीफल के समान मधुर-विष से परिपूर्ण है और जो जीवन को 'खत्म' कर देती है, उसके त्याग में आपकी क्या हानि है? आप नाटक-सिनेमा या बीड़ी पीने का त्याग कर देंगे तो आपके जीवन में क्या कुछ खराबी आ जायगी? अगर खराबी नहीं आएगी और जीवन उत्तम बन जायगा तो फिर उसका त्याग क्यों नहीं करते?

आप भगवान् की आज्ञा नहीं मानते तो आपकी मर्जी, परन्तु हम साधु तो भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए ही निकले हैं। अतएव हमें तो भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही चलना चाहिए। भगवान् किसी साधु को खाने-पीने का एकदम निषेध नहीं करते, परन्तु उनका कथन यह है कि—हे साधुओं! तुम खाने-पीने के प्रलोभन में मत पड़ो। कदाचित् प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने में तुम्हें कठिनाई प्रतीत हो तो उस कठिनाई को और

कष्टों को सहनशीलता के साथ सह लो। इस प्रकार कष्टों को सहन करके प्रलोभनों पर विजय पाओगे तो तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी। वास्तव में त्याग में दुःख है ही नहीं, किन्तु लोग कायरता के कारण उसमें दुःख मानते हैं। अगर सहनशीलता पूर्वक कष्ट सहन कर लिये जाएँ तो घबराहट हो ही नहीं सकती।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! कितने ही कायर साधु, साधुवेष धारण कर लेते हैं और केशों को लुंचन भी करते हैं, किन्तु अन्तरंग और बहिरंग रूप एक सरीखा नहीं होता। वे बाहर कुछ दिखलाते हैं और अन्दर और ही कुछ रखते हैं। इस विरूपता के कारण वे अनाथ के अनाथ ही रहते हैं। साधु बन जाने के कारण उनका संसार-सम्बन्ध संसारी जैसा नहीं रहता और साधु धर्म का भी यथावत् पालन नहीं होता। इस प्रकार उनकी हालत बेढंगी बन जाती है।

आप साधुता के पुजारी हैं, केवल साधुवेष या विद्वता के पुजारी नहीं हैं। काशी में अनेक पण्डित बहुत पढे-लिखे हैं, किन्तु क्या उन्हें साधु मान कर वन्दना करते हो? उन्हें आप वन्दना नहीं करते क्योंकि आप केवल पण्डिताई के पुजारी नहीं हैं, वरन् साधुता के ही पुजारी हैं। कहावत है—

'भेष पूजा ते मत दूजा।'

भगवान् महावीर का सिद्धांत केवल वेषपूजा का नहीं है, गुण की ही पूजा करने का है। अतएव गुण की परीक्षा करके उसकी पूजा करनी चाहिए। किसी साधु में वास्तविक साधुता का गुण नहीं है, केवल वेष है तो उसे नहीं मानना चाहिए।

किसी साधु में गुण है या नहीं, इस बात की साक्षी तुम्हारी आत्मा ही

देगी। यह बात दूसरी है कि आप अपनी आत्मा की सलाह की उपेक्षा करें, मगर यदि आप अपनी आत्मा की सलाह की उपेक्षा न करो तो आपकी आत्मा आपको सच्ची सलाह और साक्षी अवश्य देगी।

वृक्ष ऊपर—ऊपर से ही दृष्टिगोचर होता है, उसका मूल दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी वृक्ष को ऊपर से अच्छा देखकर अनुमान किया जा सकता है कि उसका मूल भी अच्छा ही होगा और वहाँ की भूमि भी अच्छी होगी। इसी प्रकार साधु की मुखमुद्रा और व्यवहार देखकर निर्णय किया जा सकता है कि उसमें गुण हैं या नहीं? ऐसा होने पर भी अगर यही आग्रह रक्खा जाय कि हम तो अमुक को ही मानेंगे फिर भले ही वह कैसा भी क्यों न हो; तो यह जान-बूझ कर गड्ढे में गिरने के समान है।

कहा जा सकता है कि कोई साधु ऊपर से साधुपन दिखला कर चालाकी से हमें ठग ले तो हमें क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि आप साधु को न पहचान सके तो बात जुदा है, किन्तु आपकी अन्तरात्मा तो गुण की ही उपासक है और आपका ध्येय कोरे वेष को साधु मानना नहीं है। अतएव आपको तो गुण का ही लाभ होगा। शास्त्र में कहा है:—

'समयति मन्नमाणे समया वा असमया वा समया होई त्ति उवेहाए'

--आचारांगसूत्र.

अर्थात्—तुम्हारा हृदय सम है और तुम समता के ही उपासक हो तो तुम्हें समता का ही लाभ होगा। किन्तु यदि तुम्हारे हृदय में असमता होगी, मलीनता होगी तो सच्चे साधु का सम्पर्क पाकर भी तुम अपना कल्याण नहीं कर सकोगे।

अतएव किसी साधु की चालाकी तुम्हारी समझ में न आवे और तुम

श्रमणोपासक होने के नाते, ऊपर से साधुता का प्रदर्शन करने वाले की उपासना भी करो, तो भी तुम्हें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सक्ती। तुम्हारा हृदय शुद्ध साधुता का उपासक होना चाहिए।

आप कह सकते हैं—हमें साधुता की बातों से क्या सरोकार है? हमें तो ऐसी बातें सुनाइए कि जिनसे संसार का सुधार हो।

इस कथन का उत्तर यह है कि संसार का सुधार तभी हो सकता है जब साधु को ही साधु माना जाय। जब तक असाधु को साधु माना जाता रहेगा, तब तक साधुओं का सुधार नहीं हो सकेगा और जब तक साधुओं का सुधार नहीं होगा तब तक संसार का सुधार होना कठिन है। अतएव पहले साधुओं का सुधार करो और साधुओं का सुधार करने के लिए अपना निज का सुधार करो।

अनाथ मुनि कहते हैं— राजन्! मैं केवल वेष से ही साधु नहीं हुआ, वरन् द्रव्य और भाव, दोनों प्रकार से साधु हुआ। इस प्रकार मैं अनाथता से मुक्त होकर सनाथ हो गया। जो लोग केवल वेष से ही साधु बनते हैं, वे निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके भी दुःख भोगते और अनाथता का अनुभव करते हैं।

इससे आगे अनाथ मुनि जो कुछ कहते हैं, वह भाव-मुनि के लिए कहते हैं। द्रव्य-मुनि के विषय में तो पहले ही कह चुके है कि निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करने के पश्चात् वेष धारण किया। इस प्रकार द्रव्य-साधु तो हो गये, परन्तु भावसाधु हुए हैं या नहीं; और यदि नहीं हुए तो क्यों नहीं हुए; इत्यादि बातें मुनि आगे बतलाते हैं।

पुलिस का सिपाही चोरी करे तो साधारण चोरी की अपेक्षा उसका

अपराध गुरुतर माना जाता है। सरकार ऐसे अपराधी को विशेष रूप से दंडित करती है। कदाचित् सरकार ऐसे अपराधी को क्षमा भी करदे, किन्तु जो साधु होकर साधुपन नहीं पालता, शास्त्र उसकी निन्दा किये बिना नहीं रहता और उस पापश्रमण को अपराधी ही मानता है। शास्त्र स्पष्ट कहता है—'अगर तू निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार करके उसका यथायोग्य पालन नहीं करता तो अनाथ ही है। तेरा गृहत्याग व्यर्थ है।' अनाथ मुनि कहते हैं—

सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा।

इस वाक्य में जो 'बहु' विशेषण दिया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जो निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार नहीं करते, वे तो कायर हैं ही, किन्तु जो लोग निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके फिर अनाथता में पड़ जाते हैं, वे और भी अधिक कायर हैं। जिस प्रकार पुलिस के सिपाही द्वारा की हुई चोरी बड़ी चोरी मानी जाती है, उसी प्रकार जो साधु होकर भी साधु धर्म का पालन नहीं करता, वह अधिक कायर है।

कहा जा सकता है कि फिर तो साधु न बनना ही अच्छा है; किन्तु यह बात भी उचित नहीं है। जो मनुष्य सेना में भर्ती नहीं होता और घर में पड़ा रहता है, वह सेना में भर्ती न होने के कारण वीर नहीं कहलाने लगता। वीर तो वही कहला सकता है जो सेना मे भर्ती होकर काम करता है। अलबत्ता जो सेना में दाखिल तो होता है, परन्तु अवसर आने पर कायरता दिखलाता है, वह अधिक कायर है। अगर आपको सेना में 'सम्मिलित होने के लिए कहा जाय और आप, 'सेना में सम्मिलित होकर काम न करने के कारण कायर कहलाना पड़ेगा' इस भय से सम्मिलित ही

न हो, तो यह आपकी कोई वीरता नहीं, कायरता ही है।

हाँ, सेना में भर्ती होकर कायरता प्रदर्शित करने वालों की अपेक्षा, घर में ही पड़ा रहने वाला एक प्रकार से अच्छा ही है। आप कहेंगे-ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि—एक आदमी चोरी करने के लिए सेना में दाखिल नही होता और दूसरा मनुष्य, सेना में भर्ती होने से चोरी करने में सुविधा होगी, ऐसा सोचकर सेना में भर्ती होता है। इन दोनों मनुष्यों में से सेना में भर्ती होकर चोरी करने वाले को अच्छा नही कहा जा सकता। पुलिस बनकर चोरी करने वाले की अपेक्षा, पुलिस में दाखिल न होने वाला अच्छा कहा जायगा।

यह एक उदाहरण है। इस उदाहरण के अनुसार साधु न होना कायरता है, किन्तु साधु होकर साधुधर्म का पालन न करना और बड़ी कायरता है। एक प्रकार से जो साधु नहीं बनते, वे कम कायर हैं। तथापि यह नही कहा जा सकता कि साधु बनना बुरा है। जो लोग साधुधर्म अंगीकार करते हैं, उनमें से साधुपन को पालने वाले सच्चे साधु भी निकलते हैं, किन्तु जो साधुधर्म अंगीकार ही नहीं करते, उनमें से साधुधर्म का पालन करने वाले कैसे निकल सकते हैं? पुलिस के सिपाहियों में से कोई चोरी करता है, तो भी पुलिस के बिना काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार साधु बनने वालों मे से कोई-कोई खराब निकल जाते हैं, किन्तु साधुओं के बिना संसार का काम चल भी तो नहीं सकता। अतएव यह कहना अयुक्त है कि साधु होना बुरा ही है। अलबत्ता जो लोग साधु होकर भी साधुधर्म का पालन नहीं करते, उन्हें सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए; मगर यह समझ लेना तो भूल ही है कि साधुपन ही बुरा है। आप लोग

जिस दिन इस सुधार की ओर ध्यान देंगे, धर्म को अन्तःकरण से अपनाएँगे और धर्म के लिए आत्म-बलिदान देने के लिए भी तैयार रहेंगे, उस दिन संसार का सुधार हुए बिना रहेगा ही नहीं।

मुनि कहते हैं— हे राजा, निर्ग्रन्थ-धर्म शूरों द्वारा पाला जा सकता है। इसे कायरलोग नहीं पाल सकते, लेकिन बहुत-से कायरलोग, निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार करके, घर-बार, कुटुम्ब, संसार आदि छोड़ भी देते हैं, यति का वेश भी पहन लेते हैं, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका आदि भी धारण कर लेते हैं और फिर कामना-पूर्ण न होने पर, साधुपने में दुःख पाते हैं।

कई लोग क्षणिक आवेश में, सनाथ बनने की क्षणिक भावना से प्रेरित होकर, संयम ले लेते हैं। कई, संसार-व्यवहार का भार सहन न कर सकने के कारण, कमा कर खाने की अशक्तता के कारण, संयम ले लेते हैं। कई—

'नारि मुई गृह संपति नासी।
मूंड मुडाय भये सन्यासी।'

इसके अनुसार, यानी स्त्री सम्पत्ति आदि के नष्ट हो जाने से, संयमी बन जाते हैं। कई साधुओं की प्रतिष्ठा देख कर वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए, साधु-वेश पहन लेते हैं। इस-प्रकार बहुत से कायर लोग, भिन्न-भिन्न कारणों से संयम स्वीकार तो कर लेते हैं, लेकिन वास्तव में उन्हें सच्चा वैराग्य नहीं होता, आकांक्षा-रहित, संयम लेने की भावना नहीं होती, सनाथ बनने के परिपक्व विचार नहीं होते, इसलिए संयम मे दीक्षित होने के पश्चात्, वे, पश्चाताप करते हैं, संयम में कष्ट अनुभव करते हैं और कीचड़ मे फँसे हुए हाथी के समान, दुःखी रहते हैं ऐसे लोग, वीर नहीं,

किन्तु कायर हैं। संयम लेकर संयम में दुःख मानना वैसी ही कायरता है, जैसी कायरता, घर से लड़ाई के लिए निकल कर फिर मरने में और घर से सती होने के नाम पर जीवित जलने के लिए निकल कर फिर अग्नि में जलने से भय करने में मानी जाती है। जिस प्रकार लड़ाई के लिए घर से निकला हुआ, मृत्यु से भय न करने पर ही लोक व्यवहार में वीर माना जाता है, उसी प्रकार संयम लेकर उस में दुःख न मान कर सुख मानने वाला ही वीर है।

राजा, सयम लेकर फिर सयम में दुःख अनुभव करने वाला व्यक्ति, किसी भी ओर का नहीं रहता। न वह ससार-व्यवहार का ही रहता है, न संयम का ही। उसकी दशा, धोबी के कुत्ते की सी होती है, जो न घर का ही होता है, न घाट का ही। इसी प्रकार, संयम लेकर फिर सयम मे दुःख अनुभव करने वाले व्यक्ति का जीवन, ससार और सयम, दोनों की उलझन में ही बीत जाता है। न वह असयमी ही रहता है; न सयम लेकर सनाथ ही बन पाता है। ससार की अनाथता से निकल कर, दूसरी अनाथता में पड़ जाता है, जो असयम की अनाथता से भी बुरी होती है।

कायरलोग, सयम लेकर उसमें सासारिक सुखों की इच्छा करते हैं। वे अच्छा-अच्छा भोजन, मान-प्रतिष्ठा, अच्छे-अच्छे वस्त्र आदि चाहते हैं और जब इनकी प्राप्ति नहीं होती, तब वे सयम में दुःख मानते हैं। यद्यपि संयम लेने के समय, सासारिक सुखों को त्याग चुके हैं, लेकिन कायरलोग, सयम में सासारिक सुख चाहते हैं, और उसे प्राप्त करने के लिए, वे अपने सयम के ध्येय को भुला देते है। उन्हें यह ध्यान नहीं रहता, कि हमारा ध्येय क्या है, हम किस भावना को लेकर उठे हैं और

संयम लेने के समय हमारा उद्देश्य क्या था ? ये लोग, एक ओर तो सांसारिक सुख भी भोगना चाहते हैं, और दूसरी ओर, साधुपने की मान प्रतिष्ठा भी। यानी यह भी चाहते हैं, कि हमें कोई असंयमी भी न कहे, किन्तु संयमी मान कर सब हमारी पूजा-प्रतिष्ठा करें और यह भी चाहते हैं, कि हमें संसार के समस्त सुख भी प्राप्त हों। इसके लिये, वे, प्रकट में तो साधु का वेश रखते हैं और परोक्ष में, सांसारिक-सुख प्राप्त करने के उपाय करते रहते हैं, तथा सांसारिक सुख न मिलने पर, अपने आपको कष्ट में मानते हैं। यदि वे, सांसारिक सुख-प्राप्त भी कर लेते हैं, तब भी उन्हें दुःख घेरे ही रहता है। उन्हें सदा यह भय बना रहता है, कि हमारे इस असंयमपूर्ण कुकृत्य का कहीं भण्डा न फूट जावे। भण्डा फूट जाने पर, हम अपमानित हो जावेंगे, इस आशंका से, वे, यह सोचते रहते हैं कि हमने संयम क्यों ले लिया ? उनसे संयम का वेश भी त्यागते नहीं बनता। ऐसा करने में, अपमान एवं निन्दा का भय है। इस प्रकार के कायर लोग संयम को दुःख मानते हैं और संयम से पतित भी हो जाते हैं।

मुनि कहते हैं— राजन् ! जो पुरुष निर्ग्रन्थधर्म को प्राप्त करके उसका पालन नहीं करता, वह कर्मबंध के मूल कारण का उच्छेद नहीं कर सकता। साधुधर्म को अंगीकार करने से आत्मा उसी भव में या आगामी कुछ भवों में मोक्ष प्राप्त करता है, किन्तु जो साधुधर्म अंगीकार करके कायर बन जाता है, वह कर्मबन्ध के मूल को छेद नहीं सकता। उसने साधु का वेष तो धारण किया है और महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा भी की है, परन्तु प्रमादवशात् या रसगृद्ध होने के कारण वह महाव्रतों का पालन नहीं

करता। साधु बन कर भी कर्मबंध के मूल को न छेद सकने का कारण प्रमाद है। अगर स्वयं के हृदय में प्रमाद न हो तो भले कोई स्वार्थी उसे महाव्रतों का पालन करने का निषेध करे, फिर भी वह नहीं मानेगा। वह गृहीत महाव्रतों का पालन करेगा ही।

महाव्रतों के विषय में विस्तार से कहना चाहिए, किन्तु इस समय अवकाश की कमी से संक्षेप में ही कहता हूँ। 'महा' शब्द सापेक्ष है और वह लघु की अपेक्षा रखता है। लघु न हो तो 'महा' भी नहीं हो सकता। लघु की अपेक्षा 'महा' और महा की अपेक्षा लघु किस प्रकार है, इस विषय में मैंने एक पुस्तक में एक उदाहरण पढ़ा था। वह यह है—

एक बादशाह बाजार में जा रहा था। रास्ते में उसने लड़कों को खेलते देखा। उनमें वजीर का भी एक लड़का था। बादशाह ने सोचा—इनमें वजीर का लड़का कौन है और वह कैसा बुद्धिमान् है, परीक्षा करके इस बात का निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार विचार करके बादशाह ने अपनी लकड़ी से जमीन पर एक लकीर खींच दी। फिर उन लड़कों से कहा— 'देखो, इस लकीर को मिटाये बिना छोटी कर दो।'

सब लड़के एक दूसरे के सामने देखने लगे। किसी की समझ में न आया कि बिना मिटाये इस लकीर को छोटी कैसे करें! तब वजीर के लड़के ने कहा—'आप अपनी लकड़ी मुझे दें तो मैं कर सकता हूँ।'

बादशाह ने लड़के को लकड़ी दे दी। वजीर के लड़के ने बादशाह द्वारा खींची हुई लकीर के ठीक सामने एक नवीन और उससे ज्यादा लम्बी लकीर खींच दी। इस लकीर के खिंचते ही पहली लकीर छोटी दिखाई पड़ने लगी। तब लड़के ने बादशाह से कहा-देखिए, आपकी लकीर

छोटी हो गई है। अगर आप न मानें तो किसी और से पूछ लीजिए कि आपकी खींची लकीर छोटी है या बड़ी?

बादशाह—ठीक है; तुम किस के लड़के हो?

बालक— मैं वजीर का लड़का हूँ।

बादशाह— इसी से यह इतना बुद्धिमान् है।

अभिप्राय यह है कि महान् की अपेक्षा लघु है और लघु की अपेक्षा महान् है। इस नियम के अनुसार महाव्रत की अपेक्षा अणुव्रत और अणुव्रत की की अपेक्षा महाव्रत हैं।

अगर श्रावकों में अणुव्रत न हों, अर्थात् वे स्थूल हिंसा भी करने लगें, असत्य भाषण करने लगें, चोरी करने लगें, व्यभिचार करने लगें और परिग्रहपरिमाण न करें तो महाव्रत भी नहीं रह सकते। अतएव यदि आप सद्गुरु चाहते हैं तो आपको अणुव्रतों का पालन करना चाहिए। आज के लोग स्वयं अणुव्रत तो पालते नहीं, अतः गुरु भी ऐसे ही चाहते हैं। और फिर जैसे को तैसे मिल भी जाते हैं।

कई लोग बुरा काम होते देखकर कहते हैं—क्या करें, हम तो गृहस्थ हैं। परन्तु उन्हें मालूम नहीं कि गृहस्थ चारों गतियों का मेहमान होता है और श्रावक देवलोक का अधिकारी होता है। अगर आप अणुव्रतों का भली-भाँति पालन करें तो खराब साधु आपके पास टिक ही नहीं सकते। पर अक्सर होता यह है—

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों डूबे बापड़े, चढ़ पत्थर की नाव॥

जब गुरु लोभी और चेला लालची होता है, तब दोनों समान ही बन

जाते हैं। शिष्य सोचता है—गुरु का काम हमारे बिना नहीं चलता; अतः हम इनका मतलब पूरा कर दें और ये हमारा मतलब पूरा कर देंगे। गुरु भी यही सोचता है। दोनों अपनी-अपनी चाल चलते हैं और दोनों एक दूसरे को धक्का देकर डुबाते हैं। परन्तु आप लोग अगर श्रावकव्रत का भली-भाँति पालन करें और सच्चे साधुओं की ओर ही सद्भाव और श्रद्धा रख कर उनकी सहायता करें तो अनाथ मुनि और राजा श्रेणिक का जमाना आज भी उपस्थित हो सकता है।

अनाथ मुनि, राजा श्रेणिक से जो कुछ कह रहे हैं, वह राजा से ही नहीं, सभी से कह रहे हैं। अगर वह राजा से ही कहें और दूसरों से न कहें तो महानिर्ग्रन्थ न रह जाएं। शास्त्र में साधुओं के लिए कहा है—

जहा पुन्नस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।

—श्रीमदाचारांगसूत्र

अर्थात्—साधु सब को समान रूप से धर्म का उपदेश करते हैं। जिस प्रकार किसी महान् को धर्म सुनाते हैं, उसी प्रकार तुच्छ को भी सुनाते हैं और जिस प्रकार किसी तुच्छ को सुनाते हैं उसी प्रकार महान् को भी सुनाते हैं। मुनि की पक्षपातहीन नजरों में राजा-रंक, सधन-निर्धन, सब समान हैं।

इस कथन के अनुसार महानिर्ग्रन्थ के लिए तो सम्राट् श्रेणिक और कोई दरिद्र समान ही थे। फिर भी उन्होंने राजा श्रेणिक को संबोधन करके यह बातें कही हैं इसका कारण यह है कि पात्र ही उपदेश को झेल सकता है। वीर पुरुष ही इस उपदेश को झेल सकता है। ढीली-ढाली धोती वाले बनिये इस उपदेश को नहीं झेल सकते। उन्हें तो मामूली त्याग भी बहुत

कठिन जान पड़ता है।

महानिर्ग्रन्थ, श्रेणिक को साधुओं के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं—राजन्! साधु दीक्षा लेकर के भी जो वणिक्-वृत्ति का त्याग नहीं करता, वह अनाथ ही है। 'हम ऐसा करेंगे तो लोग हमारी मान्यता करेंगे', ऐसा सोच कर दिखाने के लिए बाह्य क्रिया करना वणिक्-वृत्ति है। यह वृत्ति मनुष्य को साधु हो जाने पर भी अनाथ ही बनाये रखती है, सनाथ नहीं होने देती।

राजन्! जो कर्मबन्धन के आधीन है वह अनाथ है और जो कर्मबन्धन को तोड़ता है वह सनाथ है। द्रव्यसाधु कर्मबन्धन को तोड़ने में समर्थ नहीं होता, अतएव वह अनाथ है। वह महाव्रतों को पालन करने की प्रतिज्ञा तो करता है, किन्तु प्रमाद के वश होकर महाव्रतों को जीवन-स्पर्शी नहीं बनाता। अतएव वह अनाथ है।

महाव्रत, अणुव्रतों की अपेक्षा से हैं, अतएव महाव्रत के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है, उसके साथ अणुव्रत को भी शिक्षा दी जाती है। आपको साधुओं और उनके महाव्रतों का विचार करने से पहले अपने अणुव्रतों के विषय में विचार कर लेना चाहिए।

जिन व्रतों में किसी प्रकार की छूट रहती है, वह अणुव्रत कहलाते हैं और जिनमें किसी भी प्रकार की छूट नहीं होती, उन्हें महाव्रत कहते हैं। जैनशास्त्र में पाच महाव्रत और योगदर्शन में पाच यम कहे गये हैं। पर बलिहारी उनकी है जो पाच महाव्रतों या पाच यमों का यथोचित रूप से पालन करते हैं। योगशास्त्र में कहा है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह पाच यम हैं। जैनशास्त्र में भी यही कहा गया है कि

किसी की हिंसा न करना, असत्य न बोलना, अदत्त न लेना, शीलव्रत का पालन करना और किसी भी वस्तु पर ममत्त्व न रखना, यह पांच महाव्रत हैं। अणुव्रतों में थोड़ी छूट रहती है। जैसा—मैं अहिंसा का पालन करूंगा, किन्तु जो मेरा अपराध करेगा, उसे मैं दंड दूंगा। इस प्रकार अहिंसा पालन में एक छूट रख लेने के कारण यह व्रत अणुव्रत कहलाया। इस प्रकार छूट रखकर जो मनुष्य अपराधी के सिवाय किसी दूसरे को कष्ट नहीं देता, वह अणुव्रती कहलाता है। अणुव्रत और महाव्रत में यही अन्तर है।

योगदर्शन में पाँच यमो की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि देश, जाति, काल, समय आदि का, किसी भी प्रकार का अपवाद न रखकर, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करना पाँच यमों का पालन करना कहलाता है। पाँच महाव्रतों या यमों मे देश, जाति, काल या समय आदि का कोई अपवाद नहीं रहता, जब कि अणुव्रतो मे अमुक-अमुक अपवाद रक्खे जाते हैं। जैनशास्त्र की यही विशेषता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार धर्माचरण की सुविधा प्रदान करता है।

देश सम्बन्धी अपवाद रखने का अर्थ यह है कि—मैं अमुक देश में तो अहिंसा आदि का पालन करूंगा, किन्तु उससे बाहर नहीं। इस प्रकार की छूट महाव्रतों में या पाँच यमो में नहीं हो सकती। इसी प्रकार अमुक जाति के जीवों की हिंसा नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा लेना अपूर्ण अहिंसा है। जैनशास्त्र के अनुसार अहिंसा महाव्रत में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के जीवों की हिंसा करने की छूट नहीं हो सकती। अतएव जिस अहिंसा में

इस प्रकार की अपूर्णता है, वह अहिंसा अणुव्रत के अन्तर्गत है, महाव्रत में नहीं। महाव्रत में तो एकेन्द्रिय आदि समस्त जीवों की हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने का मन, वचन, काय से त्याग किया जाता है।

आज महाव्रत की इस व्याख्या को न समझने के कारण बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो गई है। कुछ लोग कहते हैं, हम स्वयं हिंसा न करें किन्तु दूसरे से करावें या हिंसा का उपदेश दें तो क्या हानि है? मगर वास्तव में जो दूसरो द्वारा की जाने वाली हिंसा का अनुमोदन करता है, वह साधु नहीं। सच्चा साधु तो वही है जो स्वयं हिंसा करता नहीं, कराता नहीं और हिंसा का अनुमोदन भी नहीं करता।

देश में, अमुक देश मे हिंसा नहीं करूँगा और अमुक देश में करूँगा; इस प्रकार की मर्यादा बांधी जाती है। यह मर्यादा अणुव्रत में है। जैसे दिशाव्रत मे प्रतिज्ञा ली जाती है कि–मैं अमुक सीमा के बाहर की हिंसा का त्याग करता हूँ। यह अणुव्रत के अन्तर्गत है। साधुओं के लिए तो महाव्रत है, जिसका पालन सब देशों में समान रूप से करना अनिवार्य होता है। साधु को कोई अढ़ाई द्वीप के बाहर ले जाय तो वह वहा भी अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन, बिना किसी अपवाद के, पूर्ण रूप से करेगा। ऐसा नहीं है कि अढाई द्वीप के बाहर कोई दूसरे व्रत हैं और भीतर दूसरे। इस प्रकार देश या जाति संबधी किसी भी प्रकार का अपवाद महाव्रतों में नहीं होता।

यह हुई देश और जाति की बात। अब काल की बात लीजिए। काल के सबंध में यह छूट रक्खी जाती है कि—सुकाल होगा तो मैं अहिंसा व्रत का पालन करूँगा, किन्तु जब दुष्काल या आपत्तिकाल होगा तब हमारा

आपद्धर्म अलग है। जैसे कोई स्त्री या पुत्र को सताता हो तब अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। ऐसे अवसर पर तो आततायी को दंड दिया जाता है। इस प्रकार अहिंसाव्रत में छूट रखना महाव्रत नहीं है। शास्त्र इस छूट के साथ व्रत लेने से रोकता नहीं, किन्तु वह व्रत अणुव्रत होगा, महाव्रत की कोटि में नहीं गिना जायगा। महाव्रत तो वही होगा, जिसको अंगीकार करने के पश्चात् किसी भी अपराधी को दंड न दिया जाय—हिंसा न की जाय। जो महाव्रतों को स्वीकार तो करता है, किन्तु अहिंसा का निरपवाद पूर्ण रूप से पालन नहीं करता, वह अनाथ ही है, सनाथ नहीं।

काल के पश्चात् समय का भी अपवाद बतलाया गया है। महाव्रतों में समय का भी अपवाद नहीं रक्खा जाता। समय का अर्थ है-अवसर। मान लीजिए, कोई ऐसा अपवाद रखता है कि—कदाचित् मुझे कोई भयंकर रोग हो जाय और उसे दूर करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पडे अथवा मुझे कोई जीव दृष्टिगोचर न हो परन्तु रोगनिवारण के लिए उसकी हिंसा हो जाय तो छूट है, तो यह छूट वाला व्रत महाव्रत में नहीं गिना जायगा। हाँ, अणुव्रत मे इस प्रकार की छूट रक्खी जा सकती है। अतएव साधु ऐसी छूट नहीं रख सकते। अगर रात्रि मे चलना पड़े तो चाहे कोई जीव हो या न हो, साधु तो ओघा से जमीन पूंज-पूंज कर ही चलते हैं। शास्त्र में कहा है कि ओघा साधु से पाँच हाथ दूर रहे तो उसे मासिक दंड आता है।

अभिप्राय यह है कि जिन व्रतों में देश, काल, समय और जाति आदि का किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं रक्खा जाता, वह महाव्रत कहलाते हैं। महाव्रत सार्वभौम हैं, अतएव उनमें किसी प्रकार की छूट की गुंजायश नहीं है।

मुनि कहते हैं राजन्! जो लोग विपुल सम्पत्ति प्राप्त करके भी इधर-उधर भटकते हैं, वे अविवेकी हैं। जो अवसर मिट्टी को चाक पर चढ़ा कर घड़ा बनाने का है, उसी अवसर पर अगर मिट्टी को चाक से उतार कर फेंक दिया जाय तो क्या यह अवसर को गँवाना नहीं है? इसी प्रकार मनुष्यजन्म और निर्ग्रन्थता प्राप्त होने पर भी जो दुखी होते हैं, वे अनमोल अवसर गँवाते हैं। ऊँची स्थिति पर पहुचकर नीचे गिरने का यह कैसा ज्वलंत उदाहरण है? इस प्रकार गिरने वाले लोगों पर ज्ञानी जन करुणा करते हैं।

आप किसी को नीचे गिरते देखेंगे तो उस पर करुणा करेंगे, परन्तु दूसरों पर करुणा करने से पहले अपने ऊपर करुणा करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम अपनी आत्मा पर ही करुणा करनी चाहिए।

मुनि कहते हैं—"राजा, कायर लोग, अहिंसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा तो करते हैं, लेकिन वे, अग्नि, पानी, आदि का आरम्भ भी करते हैं, लोगों से, लड़ाई-झगड़ा एवं निर्दयता का व्यवहार भी करते हैं, क्षमा को पास भी नहीं आने देते और बात-बात में क्रोध करते रहते हैं। ऐसा करने वाले अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाले नहीं हैं। अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, अपनी प्रतिज्ञा को कभी भी न भूलेगा, किन्तु यह ध्यान रखेगा, कि 'मैं' अहिंसा महाव्रत को स्वीकार करके संयम में प्रव्रजित हुआ हूँ, मैंने, संसार के सब जीवों को अपना मित्र माना है, फिर किसी जीव की हिंसा कैसे करूँ। किसी जीव के शरीर या मन को कैसे दुखाऊँ। किसी पर क्रोध कैसे करूँ। ऐसा करने पर मैं, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला कैसे रह सकता हूँ।"

राजा, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, किसी दूसरे जीव को भी दुःख नहीं देता है और अपने आप को भी दुःखी नहीं करता है। ऐसे व्यक्ति को, चाहे कोई मारे, गाली दे, अपमानित करे और घोर कष्ट देकर प्राण भी हरण करले, तब भी वह प्रसन्न ही रहता है। अपने आपको, दुःख मे तो मानता ही नहीं, न प्रतिहिंसा या वैर विरोध के भाव ही हृदय मे आने देता है। ऐसे समय में, अहिंसावादी विचारता है कि 'यह व्यक्ति जो मार रहा है या गाली दे रहा है, आत्म-स्वरूप को भूल कर, पतित हो रहा है, तथा हिंसा कर रहा है। यह दूसरे को दुःख देने वाला, अपने आत्मा को नीची दशा में गिरा कर ही, दूसरे को दुःख देता है। यदि इसका आत्मा उर्ध्व दशा में होता, तो यह ऐसा करता ही क्यों। इसमें, काम क्रोध आदि दुर्गुण विद्यमान हैं, तभी तो यह ऐसा कर रहा है। यदि इसके साथ मै भी ऐसा करने लगूँ, मैं भी अपने आत्मा को दुःखी करूँ, मैं भी अपने में, वैर-विरोध या क्रोध आने दूँ, तो हिंसा करने वाले में और मुझ अहिंसा का पालन करने वाले मे, क्या अन्तर रहा? फिर मैंने, प्राणिमात्र से मित्रता का क्या व्यवहार किया? मुझे दुःख देने के नाम पर, यह, अपने आत्मा को दुःखित कर रहा है। यदि मै भी इसी की तरह अपने आत्मा को दुःखित करूँ, जिसे यह दुःख मान रहा है, उसे ही मैं भी दुःख मानूँ, तो मैं सनाथ कैसा? फिरतो मैं भी इसी की तरह अनाथ हुआ।' इस प्रकार के विचार रख कर, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, आप स्वयं भी दुःखी नहीं होता, न किसी दूसरे को ही दुःखी करता है। वह तो, प्रत्येक दशा में, आनन्दित ही रहता है। कायर लोग, अहिंसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा लेकर भी, इसके विपरीत व्यवहार करते हैं।

वे लोग, प्रकट या अप्रकट हिंसा करते हैं, लेकिन अपनी कायरता छिपाने के लिए, उस हिंसा को भी अहिंसा के ही अन्तर्गत बतलाते हैं और इस प्रकार अपने आपको, अहिंसक घोषित करते रहते हैं।

संयम लेने के समय स्वीकार किये जाने वाले, पाँच महाव्रत में दूसरा महाव्रत, सत्य है। इस सत्य महाव्रत का पूर्णतया पालन तभी होता है, जब मन, वचन, और काया से झूठ का त्याग किया जावे। सत्य महाव्रतधारी, कभी और किसी भी दशा में, झूठ का प्रयोग नहीं करता। भय, क्रोध, हास्य आदि के वश हो कर भी, झूठ नहीं बोलता। संयम से प्रवर्जित व्यक्ति, झूठ तो बोलता ही नहीं, लेकिन ऐसा सत्य भी नहीं बोलता, जिसके कारण दूसरे को दुःख पहुंचे।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, कायर लोग, प्रतिज्ञा करके भी, इस सत्य महाव्रत का पालन नहीं करते। झूठ को काम में लाने से किंचित् भी नहीं हिचकिचाते और ऐसा करके भी अपने आपको, सत्य महाव्रत का पालन करनेवाला बतलाते हैं।

तीसरा महाव्रत अदत्तादान त्याग है। कोई वस्तु चाहे वह किसी के अधिकार मे हो या न हो—बिना किसी के दिये, लेना, अदत्तादान है। तीसरे महाव्रत का पालन करने वाला, ऐसी कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता, जो किसी के द्वारा दी हुई न हो। उसे यदि मार्ग पर की धूल की आवश्यकता होगी तो वह भी, किसी न किसी स्वीकृति से लेगा, बिना स्वीकृति न लेगा। वह विचारेगा, 'संसार की समस्त वस्तुओं पर से मैं अपना अधिकार उठा चुका हूँ। मेरे अधिकार में केवल वे ही वस्तुएँ हैं, जो संयम की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। इसलिए मैं, अपने अधिकार से परे की

कोई वस्तु, बिना किसी के दिये, नहीं ले सकता' । इस प्रकार के विचार से, वह अपने अधिकार से बाहर की, छोटी से छोटी और आवश्यक से आवश्यक वस्तु भी, बिना किसी के दिये, न लेगा। यहाँ तक कि वह अपने सहधर्मी एवं साथी संगी के अधिकार की वस्तु भी, बिना उसकी स्वीकृति के, अपने काम मे, या अपने अधिकार में न लेगा। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जो शास्त्राज्ञा के विरुद्ध हो। उसको यह ध्यान रहता है, कि कहीं मुझे, देव, गुरु सहधर्मी और गाथापति का अदत्त न लगे।

जिस काम के करने से शास्त्र रोकता है, उसे करना और जिसके करने को कर्त्तव्य बताता है, उसे न करना, देव-अदत्त है। गुरु, जो नियम बनावे, या जो आज्ञा दे, उसका पालन न करना, और उसके विरुद्ध करना, गुरु-अदत्त है। अपने साथी साधुओं के साथ विचर रहे हैं, उस समय भिक्षा में भोजन की कोई अच्छी वस्तु मिल गई और उसे अकेले ही खा लिया, साथी सहधर्मियो को उस वस्तु से वंचित रख दिया या उनकी स्वीकृति के बिना उनकी कोई वस्तु ले ली, तो यह सहधर्मी-अदत्त है। राजाज्ञा का भंग करना, यह राजा का अदत्त है और किसी सार्वजनिक या व्यक्ति विशेष के स्थान या पदार्थ को, गृहस्थ की आज्ञा बिना काम में लेना गाथापति (गृहपति) का अदत्त है।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, संयम लेकर भी, कायर लोग, इस तीसरे महाव्रत का पालन नहीं करते और फिर भी, अपने आपको अदत्तादान का त्यागी ही बतलाते हैं।

चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। इस महाव्रत के पालन में, अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करना पड़ता है। संयम में प्रवर्जित एवं इस महाव्रत का धारक,

किसी भी प्रकार के मैथुन का सेवन नहीं करता। वह, इस सम्बन्धी उन समस्त नियमों के पालन का पूरा ध्यान रखता है, जो शास्त्र में बतलाये गये हैं, इस महाव्रत को धारण करने वाला, केवल शरीर से ही नहीं, किन्तु मन और वचन से भी, मैथुन का चिंतवन या सेवन नहीं करता।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा! कायर लोग, संयम लेकर भी इस चौथे महाव्रत का पालन नहीं करते। वे किसी न किसी रूप में मैथुन का सेवन करते रहते हैं, ब्रह्मचर्य्य की रक्षा के नियमों की अवहेलना करते हैं और ऐसा करके भी अपने आपको पूर्ण ब्रह्मचारी बतलाते हैं।

पाँचवा महाव्रत, अपरिग्रह है। इस महाव्रत में, परिग्रह का बिलकुल त्याग किया जाता है। किसी वस्तु पर ममत्व रखने का नाम ही परिग्रह है, फिर वह चाहे सोना चाँदी हो या, कपड़ा कागज आदि। छोटी से छोटी, एवं बड़ी से बड़ी वस्तु—यदि उस पर ममत्व रखा तो वह परिग्रह में है। इस महाव्रत का पालन करनेवाला, और किसी वस्तु पर ममत्व रखना तो दूर रहा, अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखता। उसके शरीर को, चाहे कोई क्षत-विक्षत कर डाले या नष्ट कर डाले, तब भी उसे चिन्ता नहीं होती। वह किसी भी छोटी या बड़ी—ऐसी वस्तु को अपने पास नहीं रखता, जिसकी संयम पालने में आवश्यकता न हो।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, संयम लेकर भी, कायरों से वस्तु का ममत्व नहीं छूटता। अपरिग्रह व्रत लेकर भी, वे, घरबार, स्त्री, पुत्र, या शिष्य-शिष्या से ममत्व रखते हैं। उनसे, स्वीकार किये हुए अपरिग्रह व्रत का पालन नहीं होता। फिर भी वे, अपने आपको अपरिग्रही ही कहते हैं।

राजा, संयम लेने के समय पाँच महाव्रत को, तीन करण और तीन

योग से पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है, और हिंसा, झूठ, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य्य और परिग्रह का, तीन करण तीन योग से त्याग किया जाता है। गृहस्थों द्वारा स्वीकार किये जाने वाले पॉच अणुव्रत मे जो सकुचितपना रहता है, इन महाव्रतों में व्रत सकुचितपना नहीं है, किन्तु इनमें विशालता है। गृहस्थ लोग, इन व्रतों को स्थूल रूप में स्वीकार करते हैं और स्थूल व्रत में भी आगार रखते हैं। वे, स्थूल अहिंसा व्रत स्वीकार करके, अपराधी को दण्ड देने, स्थूल सत्यव्रत स्वीकार करके बिना जानी बात के लिए झूठ का प्रयोग हो जाने, स्थूल अदत्तादान व्रत स्वीकार करके, अपने मित्र, भाई आदि की वस्तु बिना दिये लेने, स्थूल ब्रह्मचर्य्य व्रत स्वीकार करके, स्व-स्त्री सेवन करने, स्थूल अपरिग्रह व्रत स्वीकार करके मर्यादित परिग्रह रखने का आगार रखते हैं, लेकिन संयम लेने वाले, इन व्रतो को महाव्रत के रूप मे स्वीकार करते हैं, तथा किसी भी प्रकार का आगार नहीं रखते। गृहस्थो के व्रत में, स्थूल एवं आगार की जो सकुचितता है, साधु उस संकुचितता से निकल जाता है। वह इन व्रतों को, सूक्ष्म रूप से स्वीकार करता है। गृहस्थ, दो करण तीन योग आदि भेदों से व्रत स्वीकार करता है लेकिन साधु तीन करण तीन योग से व्रत स्वीकार करते हैं।

राजा पंच महाव्रत को स्वीकार करके फिर उनका भली प्रकार पालन न करने वाले, उनके पालन में प्रमाद करने वाले, पासत्था कहलाते हैं। पासत्था लोग पंच महाव्रत के पालन मे शिथिलता करते हैं, अर्थात भली प्रकार पालन नहीं करते, किन्तु सासारिक सुखों की चाह करते हैं और ऐसा करके भी अपने आपको साधु बतलाते हैं। यदि कोई उनसे पूछता है, कि तुम अपने आपको साधु कैसे कहते हो, तो वे कहते हैं, कि हमने पंच महाव्रत धारण किये हैं। लेकिन राजा, पंच महाव्रत धारण करने मात्र से साधु

नहीं होता, साधु तो पंच महाव्रत का पालन करने से होता है। सनाथ तभी तो हो सकता है, जब पच महाव्रत का भली प्रकार पालन करे, प्रमाद न करे। पंच महाव्रत धारण करके भी जो उनका पालन नहीं करता है, वह पासत्था, एक अनाथता से निकल कर दूसरी अनाथता मे पड़ जाता है।

राजा, पासत्था का मन स्थिर नहीं रहता है। महाव्रतों का पालन तभी हो सकता है, जब मन चंचल न हो, किन्तु स्थिर हो। महाव्रतों का धारण तथा अव्रतों का त्याग, मन से किया जाता है। जब मन ही अस्थिर हो, तब की हुई प्रतिज्ञा का ध्यान एवं उसका पालन कैसे हो सकता है? मन के अस्थिर रहने से, वह पासत्था, जानबूझ कर भी महाव्रतों का उल्लंघन करता है, फिर भी वह स्वयं, महाव्रतों का उल्लंघन नहीं समझता।

आउत्तया जस्स य अत्थि कोई,
इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए,
न वीरजायं अणुजाइ मग्गं॥ ४०॥

अर्थ—वह कायर ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और परिष्ठापनिका समिति मे तनिक भी यतना नहीं करता। अर्थात्—चलने, बोलने, आहारादि लेने, किसी उपकरण को धरने-उठाने और परठने में किंचित् भी सावधानी नही रखता। ऐसा करने वाला कायर वीरों के मार्ग पर नहीं चल सकता।

व्याख्यान—मुनि पहले एक प्रकार की अनाथता बतला चुके हैं। यहां दूसरे प्रकार की अनाथता बतला रहे हैं। वे निर्ग्रन्थधर्म को प्राप्त करके पतित हो

जाने वालों की बात कह रहे हैं। इसको कहने का उद्देश्य यह है कि एक मनुष्य दूसरे को पतित हुआ देखकर साहसहीन हो जाता है और दूसरा उसी को पतित देखकर अधिक साहसी बनता है।

पंचम काल की विषमता देखकर अज्ञानी डर जाते हैं, किन्तु ज्ञानी उन्हें देखकर नवीन ही विचार करते हैं। वे सोचते हैं— यह पंचम आरा तो है ही, इसमें विषमता होना आश्चर्य की बात नहीं। इस विषमता से बचने के लिए हमें अधिक दृढ़ होना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके ज्ञानी और अधिक दृढ़ होते हैं, और अज्ञानी जीव शिथिल बनते हैं। परन्तु वास्तव में इस प्रकार पतित होने वाले लोगों को देखकर प्रत्येक को अधिक सावधान होना चाहिए।

एक आदमी पत्थर की ठोकर खाकर गिर जाता है तो दूसरा आदमी उसे गिरा देख कर स्वयं भी गिरता है या अधिक सावधान बनता है? वह यही सोचता है कि यह आदमी ठोकर खाकर गिर गया है तो मुझे अधिक सावधान होकर चलना चाहिए और ऐसा सोचकर वह सावधानी के साथ चलता है। इसी प्रकार एक को संयम से पतित हुआ देखकर दूसरे को अधिक सतर्क होना चाहिए।

महाव्रतों में किस प्रकार स्थिर रहा जा सकता है, इस संबंध में पातञ्जल-योगदर्शन में कहा है: —

वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्।

इस कथन का सरल अर्थ यही है कि वितर्कों को दूर करने के लिए प्रतिपक्षी भावना का सेवन करना चाहिए। वितर्क क्या है और उसकी प्रतिपक्ष-भावना क्या है, यह विचार बहुत लम्बा है। यहाँ तो संक्षेप में ही बतलाता हूँ।

वितर्क का अर्थ है—उलटा तर्क। जैसे पाँच महाव्रतो से विपरीत हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और लोभ-तृष्णा हैं। महाव्रत धारण कर लिये, पर उनसे विपरीत हिंसा आदि के वितर्क जब आडे आएँ तो उस समय क्या करना चाहिए? इस विषय में कहा है कि वितर्कों को दूर करना चाहिए, हटा देना चाहिए। तब प्रश्न खड़ा होता है कि उन्हें किस प्रकार दूर किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है कि प्रतिपक्षी भावना के द्वारा उन वितर्कों को दूर करना चाहिए।

यहाँ महाव्रतों के विषय में कहा गया है; किन्तु अणुव्रतों के विषय में भी यही बात है। अणुव्रतों में भी जब वितर्क खडे हों तो प्रतिपक्षी भावनाओं द्वारा उन्हें निवारण करना चाहिए।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह पाच महाव्रत हैं। अहिंसा का साधारण अर्थ है—हिंसा न करना। कई लोग कहते हैं कि अहिंसा तो कायरों का सहारा है, किन्तु अहिंसा कायरों की नहीं, वीरों की वस्तु है। सच्चा वीर ही अहिंसा का पालन कर सकता है। सच्चा अहिंसक इतना वीर होता है कि वह इन्द्रों को भी हरा सकता है। वह निरन्तर लड़ता ही रहता है, विपक्ष का विनाश करता ही रहता है। आप कह सकते हैं—अहिंसक के हाथ में तलवार तो होती नहीं, फिर वह किस प्रकार लडता है? इसका उत्तर यह है कि उसके पास जीवरक्षा का साधन जो रजोहरण होता है, वही अहिंसक की तलवार है। यह रजोहरण भी एक द्रव्यचिह्न है। अहिंसक के पास सच्चा और अमोघ शस्त्र तो उसकी अपनी भावना ही है। अहिंसा के विपक्ष को हटाने की जो भावना है, वही अहिंसक का शस्त्र है।

अभिप्राय यह है कि विपक्ष को हटाने के लिए प्रतिपक्षी भावना का सेवन करना चाहिए। अहिंसा का वितर्क हिंसा है। इस वितर्क को दूर करने के लिए हिंसा की प्रतिपक्षी भावना—अहिंसा को अपनाना चाहिए। अर्थात् हिंसा के वितर्क को अहिंसा द्वारा दूर करना चाहिए। हिंसा के वितर्क को दूर करने के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना का अवलम्बन लेना चाहिए। बालभाषा में भी कहा है:—

गुणी जनों को वन्दना, अवगुण जान मध्यस्थ।
दुखी देख करुणा करे, मित्र भाव समस्त।

यह चार भावनाएँ हैं। पद्य में पहली प्रमोद भावना बतलाई है, अर्थात् गुणी जनों को देखकर वन्दना करके प्रमोद प्राप्त करना चाहिए। यहाँ गुणी जनों के गुणों का अभिप्राय व्यवहारिक गुण नहीं है। क्योंकि व्यावहारिक गुण जितने ज्यादा होते हैं, उतनी ही धमाल ज्यादा होती है। व्यावहारिक गुण की दृष्टि से, संसार में जो गुणी हैं, देव उन सबसे अधिक गुणी हैं। वे तीन ज्ञान के स्वामी होते हैं; मगर उन्हें वन्दना नहीं की जा सकती। यहा वही गुणी जन समझने चाहिए जो तीन गुप्तियों और पाँच समितियों का पालन करते हैं। इस प्रकार संयमगुण को धारण करने वाले के प्रति प्रमोदभावना रखकर वन्दना करनी चाहिए।

दूसरी मध्यस्थभावना है। जो खराब है, हिंसक है, उसके प्रति भी मध्यस्थ भाव रखकर विचार करना चाहिए—यह आत्मा हिंसा करता है, इसी कारण खराब है, अगर यह हिंसा का त्याग करके अहिंसक बन जाय तो मेरे लिए वन्दनीय-पूजनीय बन सकता है। अर्जुन माली हिंसक था, किन्तु जब वह भगवान् का शिष्य बनकर अहिंसक बन गया, तब वह भी वन्दनीय हो गया। सुदर्शन ने भी उसे वन्दना की। क्या ऐसे अवगुणी

को वन्दना करना उचित था ? सुदर्शन का उसे गुरु मानना क्या उचित था ? पर गुणों के ग्राहक पहले की बातों को भूल कर गुणों को ही ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार हिंसक अहिंसक बन जाएँ, ऐसी भावना रखनी चाहिए। भावना रखने पर भी अगर उसकी हिंसा न छूटे तो उसके प्रति मध्यस्थ भावना तो अवश्य ही रखनी चाहिए। किसी भी स्थिति में उसके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए।

कामदेव को धर्म से च्युत करने के लिए देव, पिशाच का रूप धारण करके, तलवार लेकर आया था। फिर भी कामदेव ने उस पर क्रोध नहीं किया। उसने तो यही विचार किया कि—यह पिशाच मेरी परीक्षा करने आया है कि मुझे परमात्मा के प्रति प्रीति है या नहीं ? इसके सिवाय यह पिशाच मुझे 'अप्पत्थियपत्थिया' अर्थात् अनिष्ट की कामना करने वाला बतलाता है, सो उसका यह कहना ठीक ही है। जो वस्तु अवाञ्छनीय है, उसकी वाञ्छा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार देव का कथन है तो सत्य, मगर अन्तर यही है कि यह धर्म को अवाञ्छनीय मानता है और मैं पाप को अवाञ्छनीय समझता हूँ। धर्म को अवाञ्छनीय समझने के लिए इसे कितना कष्ट भोगना पड रहा है। इस बेचारे में इतना दुःख भर गया है कि इसका दुःख इसके शरीर से बाहर निकल कर मेरे समीप तक आ पहुचा है। यह बड़ा ही दुखी है। अतएव इस पर करुणा करनी चाहिए। प्रभो ! मेरी यही अभ्यर्थना है कि इसका भी कल्याण हो।

बहुत बार ऐसा होता है कि दूसरों मे कोई बुराई देखकर मनुष्य ऐसा कर बैठता है कि अपने अन्दर भी बुराई उत्पन्न हो जाय या अपने सद्गुण

भी नष्ट हो जाएँ। आप ऐसा न कर बैठें, इस बात का ध्यान रखिए। महापुरुषों के चरित्र से यही शिक्षा मिलती है कि सद्गुणों के द्वारा दुर्गुणों पर विजय प्राप्त की जाय। सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली को प्रतिपक्षी भावना द्वारा ही जीता था। भाव की बात अलग है, पर ऊपर का श्रम तो अर्जुन माली को ही अधिक पड़ा था, फिर भी विजय सुदर्शन को ही प्राप्त हुई। इसी प्रकार कामदेव को धर्मच्युत करने के लिए देव को कितना अधिक श्रम करना पड़ा था। उसे पिशाच का रूप धारण करना पड़ा था। उसने आसुरी प्रकृति के अनुसार बीभत्स रूप धारण किया था, परन्तु जब आसुरी प्रकृति के सामने दैवी प्रकृति प्रकट हुई तब देव पराजित होकर भाग गया। दैवी प्रकृति के प्राकट्य से आसुरी प्रकृति विलीन हो गई। अतः हिंसा का मुकाबिला करने के लिए अहिंसा की भावना भानी चाहिए।

तीसरी करुणा भावना है। जिसके हृदय में करुणा होती है, वे कदापि यह विचार नहीं करते कि—दूसरा मरता है तो भले मरे; हमें तो अपने आनन्द से मतलब! करुणा भावना वाला तो दूसरे के हित के लिए अपने शरीर का भी उत्सर्ग कर देता है। वह दूसरे को दुखी देखकर स्वयं दुख का अनुभव करता है। अनुकम्पा का अर्थ ही यह है—'अनुकूलं कम्पनं चेष्टनम्—इति अनुकम्पा।' अर्थात् दूसरे को जो दुःख है, वह दुःख मुझे ही है इस प्रकार की भावना उत्पन्न होना अनुकम्पा है।

आप लोग अहिंसक कहला कर भी अगर घर के लोगों पर और नौकर-चाकरों पर भी अनुकम्पा न रक्खें तो क्या यह ठीक कहलाएगा? कोई नौकर बीमार हो, फिर भी उससे काम लेना अथवा उसका वेतन काट लेना अहिंसक को शोभा नहीं देता। अंग्रेज लोग भी अपने बीमार नौकरों की

सार-सँभाल रखते हैं और बीमारी की अवस्था में उनका वेतन नहीं काटते। तो फिर आप अहिंसक होकर ऐसा करें, यह क्या आपको शोभा देता है? कदापि नहीं।

जिनके हृदय में अनुकम्पा या करुणा है, वे दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानते हैं और दूसरों को दुःखमुक्त करने के लिए सभी शक्य प्रयत्न करते हैं। पर आप क्या करते हैं, इस पर विचार करो। मान लो, आपके पास दो कोट हैं और आपको सिर्फ एक कोट की आवश्यकता है। एक कोट बेकार पड़ा है। ऐसी स्थिति में कोई गरीब आदमी तुम्हारे सामने कड़कड़ाती हुई सर्दी से थर-थर काँप रहा है। क्या तुम अपना कोट उसे दे सकोगे? यह तो नहीं कहोगे कि मरे तो भले मरे, मुझे क्या मतलब? अगर तुम ऐसा कहते या सोचते हो तो तुम्हारे हृदय में करुणा नहीं है। सच्चा करुणावान् तो वही है जो दूसरों के दुःख का प्रतीकार करने के लिए या उन्हें दुःख न होने देने के लिए स्वयं दुःख सहन कर लेता है। धन्य हैं वे धर्मरुचि अनगार, जिन्होंने चींटियों की अनुकम्पा करके स्वयं कटुक तूंबे का शाक खा लिया और अपने प्राण दे दिये, परन्तु चींटियों की रक्षा कर ली। और धन्य हैं भगवान् अरिष्टनेमि जिन्होंने पशुओं की रक्षा के लिए राजीमती जैसी सन्नारी का भी परित्याग कर दिया। इन महापुरुषों ने तो करुणा के लिए ऐसा अपूर्व और अद्भुत त्याग किया मगर आपसे गरीबों की करुणा के लिए फटे कपड़े भी नहीं त्यागे जाते! सच्चा दयालु सदैव यही विचार करता है कि मेरे किसी भी काम से किसी को तनिक भी दुःख नहीं होना चाहिए।

चौथी मैत्री भावना है। इस भावना के अनुसार संसार के समस्त

प्राणियों को अपना मित्र बनाना चाहिए। आप प्रतिक्रमण में तो प्रतिदिन यह पाठ बोलते हैं—

मित्ती मे सव्वभूएसु

अर्थात्—समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव है।

सद्भाग्य से आपको यह पाठ तो याद है, परन्तु पाठ का उच्चारण करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मत समझो; किन्तु उस पाठ को जीवन में उतारकर सब जीवों को अपना मित्र बनाओ।

इस प्रकार उपर्युक्त चार भावनाओं से अहिंसा के विषय में उत्पन्न होने वाले कुतर्कों का नाश होगा और अहिंसा भाव प्रकट होगा। यह चार भावनाएं महाव्रतों को अंगीकार करके पुनः उनसे पतित होने से बचाती हैं।

महाव्रतों में किस प्रकार स्थिर रहा जा सकता है, इस संबध में थोड़ा कहा जा चुका है, अब भी उसी सबंध में कुछ कहना है।

यद्यपि गृहस्थ महाव्रतो को स्वीकार नहीं करते, किन्तु अणुव्रतो को स्वीकार करते हैं, फिर भी अणुव्रतों के आधार पर महाव्रतों की सिद्धि होती है। अणुव्रत स्वयं गृहस्थों के लिए तो लाभदायक हैं हीं, साथ ही दूसरों के लिए भी लाभप्रद हैं। इसी प्रकार महाव्रत भी अपने ही लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए भी लाभप्रद हैं। अणुव्रत या महाव्रत का खण्डन करने वाला अपनी हानि तो करता ही है, दूसरों की भी हानि करता है। अतएव महाव्रत क्या हैं और उन्हें किस प्रकार स्थिर रक्खा जा सकता है? यह बात समझने योग्य है। कुछ लोगों को सत्य को समझना भी कठिन मालूम होता है, पर सत्य बात को समझने से और सत्य को स्वीकार करने से भी

बहुत लाभ होता है।

राजा श्रेणिक सत्य को स्वीकार करने में संकोच नहीं करता था। इसी कारण अनाथी मुनि की बात समझने में उसे देर नहीं लगी। अनाथी मुनि कहते हैं—राजन्! जो कायरता के कारण महाव्रतों का पालन करना छोड़ देता है, वह अनाथ ही है।

महाव्रतों की रक्षा प्रतिपक्षी वस्तु का नाश करने से होती है। जिसके द्वारा एक पक्ष को बाधा पहुँचती है, वह उसका प्रतिपक्ष कहलाती है। बिल्ली को दूध और कौवा को दही की रक्षा का काम सौंपा जाय तो वे उन वस्तुओं को बिगाड़ेंगे ही। बिल्ली से चूहे की रक्षा करवाई जाय तो कैसे होगी? बिल्ली चूहे की प्रतिपक्षी है। इसी प्रकार महाव्रत के जो प्रतिपक्षी हैं, उनसे महाव्रतों को बचाते रहोगे तो ही उनकी रक्षा होगी। अहिंसा से विरुद्ध हिंसा, सत्य से विरुद्ध असत्य, अस्तेय से विरुद्ध स्तेय (चोरी), ब्रह्मचर्य से विरुद्ध मैथुन और अपरिग्रह से विरुद्ध ममत्वभाव है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि हिंसा करने से अहिंसाव्रत का नाश होता है या हिंसा कराने से अथवा हिंसा का अनुमोदन करने से? इस प्रश्न के उत्तर में जैन शास्त्र में और पातञ्जलयोगदर्शन में भी कहा गया है कि तीनों बातें हिंसा से विरुद्ध समझनी चाहिए। हिंसा करने से, हिंसा कराने से और हिंसा का अनुमोदन करने से भी अहिंसा का नाश होता है।

कुछ लोगों का कथन है कि यदि स्वयं हिंसा न की जाय और दूसरों से कह कर कराई जाय तो क्या बाधा है? परन्तु जैसे हिंसा करना अहिंसा का प्रतिपक्ष है, उसी प्रकार हिंसा कराना और उसका अनुमोदन करना भी

प्रतिपक्ष है। अतएव तीनों कारण से अहिंसा का नाश होता है।

एक प्रश्न और उठता है। वह यह कि स्वयं हिंसा करने से अधिक पाप होता है या कराने से? इस प्रश्न का एकांत रूप मे कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध मे गम्भीर विचार करने से प्रतीत होगा कि स्वयं अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य में जो यतना की जा सकती है, वह दूसरों से करवाने पर नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त अपने हाथ से होने वाले कार्य में मर्यादा की जितनी रक्षा हो सकती है, उतनी दूसरों के हाथों कराने में नहीं हो सकती। इस दृष्टि से देखा जाय तो कभी-कभी स्वयं करने की अपेक्षा कराने मे अधिक हिंसा हो जाती है, और कभी-कभी अपने हाथ से करने में भी, विवेक न रहने पर, अधिक हिंसा हो सकती है। अतएव एकान्त रूप से नहीं कहा जा सकता है कि स्वयं करने मे अधिक पाप है या कराने में अधिक पाप है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि लोग आलस्य में पड़े रहने के कारण और अविवेकपूर्वक काम कराने के कारण विशेष पाप के भागी हो जाते हैं। आज लोग स्वयं आलस्य मे पड़े रहते हैं और दूसरों से काम कराते हैं, इस कारण संसार में आलस्य बढ़ गया है। शास्त्र में बहत्तर कलाओं को बतलाने का अभिप्राय यही है कि लोग आपस में संघर्ष न करें और विवेकपूर्वक अपना कार्य करें।

साराश यह है कि साधु स्वय हिंसा न करे किन्तु दूसरों से करावे तो क्या बाधा है? ऐसा कहने वालों को समझना चाहिए कि हिंसा करना, कराना और हिंसा का अनुमोदन करना, यह तीनों अहिंसा के प्रतिपक्षी हैं और इस कारण तीनों ही वर्ज्य हैं।

पातञ्जल योगसूत्र मे आगे कहा है—क्रोध, लोभ और मोह के वशी·

भूत होने से हिंसा होती है। यहा यद्यपि मोह को अन्त में गिनाया है, तथापि ज्ञानियो के कथनानुसार हिंसा आदि जितने भी पापकर्म होते हैं, सब मोह से ही होते हैं। सत् वस्तु को असत् और असत् को सत् मानना मोह है। जैनशास्त्र में इसी को मिथ्यात्व कहा है।

स्वयं हिंसा करना, दूसरे से कराना और हिंसा का अनुमोदन करना, इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। फिर क्रोध, लोभ और मोह से हिंसा करना, कराना और अनुमोदन करना, इस प्रकार हिंसा के नौ भेद हो जाते हैं। क्रोध, लोभ और मोह भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन तीन प्रकार के हैं। जिसमें उत्कृष्ट (अति तीव्र) क्रोध होता है वह उत्कृष्ट हिंसा करता है, जघन्य (हलका) क्रोध होता है वह जघन्य हिंसा करता है और मध्यम क्रोध वाला मध्यम हिंसा करता है। इस तरह पूर्वोक्त नौ भेदों के भी तीन तीन भेद हो जाते हैं, अतएव हिंसा सत्ताईस प्रकार की है। यह सत्ताईस प्रकार की हिंसा मन से भी की जाती है, वचन से भी की जाती है और काय से भी की जाती है। अतएव हिंसा के २७×३ = ८१ भेद होते हैं।

यह सब भेद जीवों को दुःख देने वाले हैं और जन्म-मरण को बढ़ाने वाले हैं। इस अनर्थ से बचने के लिए हिंसा की प्रतिपक्षी भावना भानी चाहिए। जो हिंसा की प्रतिपक्षी भावना नहीं भाता, वह अनेक बार हिंसा का भी प्रतिपादन करने लगता है। वह स्वयं भी पतित होता है और दूसरों को भी पतित करता है। इसी कारण ऐसे मनुष्य अनाथ मुनि के कथनानुसार अनाथ हैं।

यह मुख्य रूप से साधुओं की बात हुई। श्रावको के विषय में भी

विचार करें। जब अणुव्रतो के विषय में आपके चित्त में वितर्क उठें उस समय आप प्रतिपक्षी भावना का अवलम्बन लेंगे तो आपका भी कल्याण होगा और साथ ही दूसरों का भी कल्याण कर सकोगे।

मन में वितर्क उत्पन्न होने से हृदय में बहुत उदासीनता आ जाती है। प्रतिपक्षी भावना का आश्रय लेने से उन वितर्कों का नाश हो जाता है और अन्तःकरण में एक प्रकार का अनूठा तेज प्रस्फुटित होता है। महाभारत के युद्ध में अर्जुन के मन में उदासीनता आ गई थी और उदासीनता के के कारण शिथिल होकर उसने धनुष एक ओर फेंक दिया था, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने उसे बोधप्रदवचन सुनाये तो उसमें पुनः तेज का संचार हुआ और वह पूर्ववत् तेजस्वी बन गया। इसी प्रकार श्रावक जब तक साधु के सद्वचन नहीं सुनता तब तक वह उदासीन रहता है। सद्वचन सुनने से उसकी उदासीनता हट जाती है और नूतन तेजस्विता आ जाती है।

जब महाभारत युद्ध होना निश्चित हो गया तब कौरव और पाण्डव दोनों विजय लाभ की कामना करने लगे। भावना तो दोनों की ही विजय-लाभ की थी, किन्तु एक पक्ष सत्य के द्वारा विजय लाभ करना चाहता था और दूसरा पक्ष सत्य से विमुख होकर भी विजय प्राप्त करना चाहता था।

दुर्योधन ने सोचा— कृष्ण बडे ही दूरदर्शी और नीतिज्ञ हैं वह हमारे पक्ष में आ जाएं तो हमारी विजय असंदिग्ध हो सकती है। उधर अर्जुन ने भी यही सोचा—यदि कृष्णजी हमारी ओर हों तो हमारी विजय में कोई संशय ही न रहे। इस प्रकार कृष्ण को अपने अपने पक्ष में दोनो लाना चाहते थे। दोनों उन्हें युद्ध का आमन्त्रण देने गये। कृष्ण उस समय शयन कर रहे थे। उन्हें सोया देख दुर्योधन विचार करने लगा—कृष्ण सो रहे हैं,

तब तक मुझे कहाँ बैठना चाहिए ? मैं राजा हूँ और विजय का अभिलाषी हूँ, अतएव मुझे अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार इनके सिरहाने बैठना चाहिए। यह सोचकर वह उनके सिर की ओर बैठ गया। परन्तु अर्जुन कृष्णजी के प्रति दासभाव— नम्रभाव रखता था। उसने सोचा —मुझे कृष्णजी को अपने पक्ष में लेना है तो उनके प्रति नम्रता प्रदर्शित करनी चाहिए। यह विचार कर वह उनके पैरों की ओर खड़ा हो गया।

कृष्ण यथासमय जागे। मनुष्य जब सोकर उठता है तब उसका शरीर स्वाभाविक रूप से पैरों की तरफ जाता है और मुख भी पैरों की तरफ होता है। कृष्णजी सोकर उठे तो उनका मुख अर्जुन की ओर फिरा और पीठ दुर्योधन की तरफ हुई। यह देख कर दुर्योधन सोचने लगा—अर्जुन पहले आमंत्रण दे देगा और संभव है कि ये उसके आमन्त्रण को स्वीकार भी कर लें, अतएव मुझे भी अपने आने का प्रयोजन बता देना चाहिए। यह सोचकर वह बोला—'महाराज। मैं भी आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। मैं भी आपके मस्तक की सेवा कर रहा था।'

दुर्योधन की आवाज सुनकर कृष्णजी ने उसकी ओर नजर फेरी और कहा—अच्छा, तुम भी आये हो ?

इसके बाद उन्होंने दोनों के आने का प्रयोजन पूछा दोनों ने अपना-अपना प्रयोजन कह सुनाया। कृष्ण ने कहा—दोनों मेरे पास आये हो और मैं दोनों को ही सन्तुष्ट करना चाहता हूँ। देखो, एक ओर मेरी यादवी सेना है और दूसरी ओर अकेला मैं हूँ। इनमें से जिसे तुम चाहो; पसंद कर सकते हो। लेकिन अर्जुन, तुम अभी शान्त रहो। पहले दुर्योधन को माँग लेने दो। दुर्योधन के माँगने से जो शेष रहे, उसी में

तुम संतोष कर लेना।

कृष्ण का कथन सुनकर दुर्योधन प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—युद्ध में सेना की आवश्यकता होती है। वहाँ अकेले कृष्ण क्या काम आएंगे? मुझे सेना माँग लेनी चाहिए। यह सेना पाण्डवों को पराजित करने में काम आएगी। मेरा भाग्य प्रबल है कि कृष्ण ने पहला अवसर मुझे दिया है। आखिर मेरी शक्ति का प्रभाव इन पर भी पड़ ही गया।

इस प्रकार मन ही मन विचार कर दुर्योधन बोला—आप मुझे यादवी सेना दे दीजिए।

कृष्ण—ठीक है। यादवी सेना तुम्हारे पक्ष में युद्ध करने आएगी।

इसके बाद कृष्ण ने अर्जुन से कहा—तुम्हारे पक्ष में तो मैं रह गया।

अर्जुन की प्रसन्नता का पार नहीं था। उसने कहा—मैं जो सोचता था, वही हुआ।

कृष्ण ने अपनी सेना को दुर्योधन के साथ जाने का आदेश दिया और स्वयं अर्जुन के साथ जाने को तैयार हुए। उन्होंने अर्जुन से कहा—तूने सेना का मोह छोड़कर मुझे खरीद लिया है। मैं तेरे साथ हूँ।

क्या आप लोग भी ईश्वर को खरीदना चाहते हैं? अगर खरीदना चाहते हैं तो बदले में क्या देना चाहते हैं? किस वस्तु का त्याग करना चाहते हैं? मीरा ने कहा है:—

माई! मैंने गिरिधर लीनो मोल,
कोई कहे हलको, कोई कहे भारी,
कोई कहे अनतोल ॥ माई० ॥
कोई कहे महंगा, कोई कहे सस्ता,
कोई कहे अनमोल ॥ माई० ॥

जिसे परमात्मा के प्रति प्रीतिभाव है, वह सस्ते और महँगे की चर्चा में उतरेगा ही नहीं। वह तो उसे खरीद ही लेगा। परमात्मा को खरीदने के लिए क्या मूल्य चुकाना पड़ता है, इस विषय में कहा है:—

पास न कौड़ी मैंने मुफ्त खुदा को मोल लिया,
ऐसा सौदा किया।

पास में जब एक कौड़ी भी नहीं होती, तभी परमात्मा को खरीदा जा सकता है।

लड़ाई के समय इस प्रकार एक की आशा में रहना कोई सामान्य बात नही है। हम द्रव्य-युद्ध को ठीक नहीं समझते और गीता भी उसे ठीक नहीं कहती। लोग गीता को लड़ाई की पुस्तक कहते हैं किन्तु हमारी दृष्टि में तो उसमें भी अहिंसा का ही निरूपण है। गीता मे जिस युद्ध का वर्णन है, वह युद्ध दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृति का युद्ध है। परन्तु इस समय इसकी चर्चा नही करना है। यहाँ तो सिर्फ यही बतलाना है कि भौतिक युद्ध में भी अर्जुन ने कहा था—भले समग्र सैन्य या राज्य चला जाय, किन्तु मैं कृष्ण को नहीं छोड़ सकता। इसी प्रकार अगर आप परमात्मा को अपने पक्ष में लेना चाहते हैं तो निश्चय कीजिए कि भले सारे संसार की सम्पत्ति चली जाय, परन्तु मैं सत्य का परित्याग नहीं करूँगा। शास्त्र मे भी कहा है:—

तं सच्चं खु भयवं।

अर्थात्—सत्य ही भगवान् है।

अर्जुन चाहते तो कृष्ण से कह सकते थे कि मैं भी आमंत्रण देने के लिए आया हूँ। आधी सेना मुझे भी मिलनी चाहिए। पर उन्होंने,

ऐसा नहीं कहा। अर्जुन ने सेना का त्याग करके कृष्ण को ही अपने पक्ष में लेना श्रेयस्कर समझा। इसी कारण कृष्ण ने अर्जुन से कहा था— हे अर्जुन, तू दैवी सम्पत्ति का भोक्ता है। मै सोचता था कि ससार में कोई दैवी सम्पत्ति का भोक्ता है या नहीं? पर अब दैवी सम्पत्ति का भोक्ता तू मुझे मिला है तो मै सारे ससार को तेरे समक्ष उपस्थित कर सकता हूँ।

,अर्जुन और कृष्ण की जोड़ी नर-नारायण की जोड़ी कहलाती है। अर्जुन ने नर का और कृष्ण ने नारायण का पक्ष लिया है।

गीता में दैवी सम्पत्ति के लक्षणों मे निर्भयता और अहिंसा भी गिनी गई है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि गीता हिंसा की शिक्षा देने वाली पुस्तक नहीं है। अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिए दैवी सम्पत्ति के गुणो को अपनाने की आवश्यक्ता है। केवल बाह्य स्नान से कुछ होता-जाता नहीं, पर ज्ञानयोग से पवित्र होने से ही आत्म-कल्याण होता है। आत्मा को पहचान लेने का फल-प्राणी मात्र पर अनुकम्पा रखना है। जब तुम्हारी अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान से आलोकित होगी तो प्राणियों के प्रति स्वतः करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होने लगेगा।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—तूने चतुराई से मुझे अपने पक्ष में ले 'लिया है, अतएव मै कहता हूँ कि तू दैवी सम्पत्ति का उपभोक्ता है। दैवी सम्पत्ति आत्मा का अभ्युदय साधन करती है और आसुरी प्रकृति आत्मा के अधःपतन का कारण बनती है।

साराश यह है कि दैवी सम्पत्ति को अपनाना ईश्वर को ही अपनाना है। फिर उसे चाहे ईश्वर कहो अथवा और कुछ कहो। शब्द का भेद होने पर भी वास्तविक भेद कुछ नहीं है।

मुनि, राजा श्रेणिक से यही बात कह रहे हैं। वे कहते हैं—जो केवल शब्दों को ही पकड़ रखता है और लक्ष्य को नहीं पकड़ता, वह नाथ नहीं बन सकता। नाथ वही बन सकता है जो लक्ष्य को नहीं भूलता। अतएव आपको नाथ बनना है तो सदैव लक्ष्य को अपने सम्मुख रक्खो। कदाचित् आप सनाथ न बन सकें तो सनाथ के सेवक बन कर रहिए तब भी आपका बेड़ा पार हो जाएगा। जैसे रेलगाड़ी के डिब्बों में पावर नहीं होता—एंजिन में होता है। परन्तु जब डिब्बों की साकल एंजिन के साथ जोड़ दी जाती है तो एंजिन के साथ डिब्बे भी लक्ष्य स्थान तक पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार अगर आप स्वयं सनाथ नहीं बन सकते तो सनाथ के साथ अपना संबंध जोड़ लो। ऐसा करने से आपको भी वही लाभ होगा जो अनाथ मुनि के साथ संबंध जोड़ने से राजा श्रेणिक को हुआ था।

अनाथ मुनि ने राजा से कहा—राजन्! केवल साधु-दीक्षा लेने मात्र से कोई सनाथ नहीं बन जाता। सनाथ बनने के लिए तो साधु का आचार समीचीन रूप से पालन करना आवश्यक है। जो साधु के आचार का समीचीन रूप से पालन नहीं करता, वह अनाथ का अनाथ ही बना रह जाता है।

जैनदर्शन मौलिक और परिपूर्ण है, इसीलिए वह साधु के आचार-विचार की रीति स्पष्ट बतलाता है। वह साधु के आचार की कोई बात गुप्त भी नहीं रखता। जो लोग साधु के आचार को दबा कर रखना चाहते हैं और सोचते हैं कि अगर कोई हमारा घर और हमारी रीति-नीति जान जायगा तो हमें उपालंभ देगा; वे भी अनाथ ही हैं। सत्य का आचरण करने वाला और सत्य को प्रकट करने वाला ही सनाथ कहलाता है।

अनाथ मुनि ने कहा—राजन्! जो महाव्रतों को स्वीकार तो कर लेता है किन्तु बराबर उनका पालन नहीं करता, वह अनाथ है। जो महाव्रतों को अङ्गीकार करके भी उनका स्पर्श नहीं करता, वह महाव्रती नहीं कहला सकता।

आप सब यही कहते हैं कि पाँच महाव्रतधारी ही हमारे गुरु हैं। किसी जैन बालक से पूछा जाय तो वह भी यही कहेगा। शास्त्र भी यही कहता है। इस प्रकार जब आप महाव्रतधारी को ही गुरु मानते हैं तो आपको महाव्रत-धारी का लक्षण भी जानना चाहिए। एक उदाहरण द्वारा वह लक्षण बतलाया जाता है—

कल्पना करो, किसी आदमी ने पहले गाय नहीं देखी है। अब वह पहली बार ही गाय को देख रहा है। ऐसी स्थिति में गाय को देखने पर भी वह कह नहीं सकता कि यह गाय है। गाय को गाय कहने के लिए गाय का लक्षण जानना आवश्यक है। पदार्थ की ठीक-ठीक पहचान उसके लक्षण से ही होती है। परन्तु लक्षण दूषित नहीं होना चाहिए। लक्षण ही गलत हुआ तो पदार्थ की पहचान ठीक तरह नहीं हो सकती। मान लीजिए किसी ने कहा—जिस पशु के सींग और पूंछ हों उसे गाय कहते हैं। मगर यह लक्षण सही नहीं है, क्योंकि यह लक्षण तो भैंस मे भी पाया जाता है। इस प्रकार जो लक्षण लक्ष्य में रहने के साथ अलक्ष्य (लक्ष्य से भिन्न) में भी रह जाय, वह अति-व्याप्ति दोष से दूषित कहलाता है।

अगर कोई कहे कि जिसका रग काला हो उसे गाय कहते हैं,* तो यहा अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि यह लक्षण सब गायों में नहीं मिलता। कोई

---

*यद्यपि यहाँ अतिव्याप्ति दोष भी है, पर वह विवक्षित नहीं है।

गाय सफेद और कोई पीली भी होती है।

कदाचित् यह कहा जाय कि जिस पशु के छह पैर होते हैं, उसे गाय कहते हैं; तो यह लक्षण असंभवदोष वाला होगा, क्योंकि छह पैर किसी भी गाय में नहीं पाये जाते।

इस प्रकार लक्षण के तीन दोष हैं। सच्चा लक्षण वही है कि जिसमें इन तीन दोषों में से एक भी दोष न हो। जो लक्ष्य में ही रहे, लक्ष्य के बाहर न रहे और लक्ष्य में पूर्ण रूप से रहे वही निर्दोष लक्षण कहलाता है। इस नियम के अनुसार गाय का लक्षण क्या है? कहना होगा कि जिस पशु के गले में चमडी लटकती हो, वह गाय है। उस चमड़ी को गलकम्बल कहते हैं और यह गलकंबल प्रत्येक गाय मे अवश्य होता है और साथ ही गाय के सिवाय किसी अन्य प्राणी में नहीं होता। इस निर्दोष लक्षण से गाय पहचानी जा सकती है।

इसी प्रकार पाँच महाव्रतधारी को पहचानने के लिए भी कोई लक्षण होना चाहिए, जिससे उनकी पहचान हो सके। पाँच महाव्रतधारी ही गुरु-पद का अधिकारी होता है, इस कथन के साथ किसी का मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ देखना यह है कि जो महाव्रतों को स्वीकार करता है वह गुरु है अथवा महाव्रतों का पालन करने वाला गुरु है?

जैन शास्त्र और पातञ्जलयोगदर्शन—दोनों में ही कहा है कि प्रतिपक्षी भावना द्वारा वितर्कों का विनाश करने वाला ही महाव्रतों का पालन कर सकता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई हिंसा को तो रोकता नहीं और कहता है कि मैं महाव्रतों का पालन करता हूँ, तो उसका यह कथन सत्य नहीं हो सकता। इस प्रकार बातो से महाव्रतों का पालन करने वाले बहुत मिल जाएँगे; ऐसे

लोग भी कम नहीं मिलेंगे जो अपने आपको महाव्रतधारियों से भी बढ़ा-चढ़ा बतलाएँगे। परन्तु सच्चे परीक्षक के सामने ऐसी बातों की कोई कीमत नहीं होती; जैसे रत्नों के परीक्षक कुशल जौहरी के सामने कृत्रिम रत्नों का कुछ भी मूल्य नहीं होता।

सभी लोग पाँच महाव्रतधारियों की परीक्षा नहीं कर सकते। अतएव इस के संबंध मे किसी प्रकार की भूल न होजाय, यह बात ध्यान में रखकर शास्त्र में आचार्य, उपाध्याय, गणी और गणावच्छेदक आदि की व्यवस्था की गई है और बतलाया है कि जिनके विषय में आचार्य, उपाध्याय आदि साक्षी दें कि यह महाव्रतों का पालन करते हैं, उन्हीं को महाव्रती मानना चाहिए। इसलिए जिनकी परीक्षा आप नहीं कर सकते हैं, उनके विषय में आपको आचार्य, उपाध्याय आदि की सम्मति मान्य करनी चाहिए। हाँ, अगर आचार्य आदि ही इस विषय मे गलत आदेश दें तो वे अपराधी हैं। आचार्य आदि महाव्रतियों की पहचान कराने वाले एजेण्ट हैं। जब आप किसी वस्तु की परीक्षा करके बाजार से स्वयं नहीं खरीद सकते, तब दलाल की मार्फत खरीदते हैं। कोई दलाल खराब चीज को अच्छी कहकर दिलादे तो यह उसका अपराध है। इसी प्रकार कोई आचार्य अगर महाव्रतों का पालन न करने वाले को महाव्रती कहकर पुजवाता है, तो वह अपने उत्तर-दायित्व को विस्मृत करता है और अपराध का पात्र बनता है। महाव्रती न स्वयं हिंसा करता है, न कराता है और न हिंसा करने वाले को अनुमोदन देता है। न असत्य बोलता है, न असत्य बोलवाता है और न बोलने वाले का अनुमोदन करता है। इसी प्रकार चोरी, मैथुन-सेवन और परिग्रह न स्वयं करता है, न कराता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है।

आज कहा जाता है कि अमुक साधु ने शिष्य बनाने के लिए किसी छोकरे को उड़ा लिया, परन्तु शास्त्र कहता है कि साधु बिना आज्ञा लिये एक तिनका भी नहीं ले सकता तो शिष्य बनाने की बात ही दूर रही। अगर कोई ऐसा करता है अर्थात् चोरी से किसी को शिष्य बनाता है तो वह शिष्य चोरी का अपराधी है, ऐसे साधु को नयी दीक्षा लेनी पड़ती है। वह आठवें प्रायश्चित्त का पात्र है।

जब मुझे वैराग्य हुआ तो मेरे मामा को साधुओं के प्रति बहुत नाराज़गी हुई। यहाँ तक कि उन्होंने उपाश्रय में जाना भी छोड़ दिया। एक दिन मेरे गुरु मगनलालजी महाराज भिक्षा के लिए निकले। रास्ते में उन्हें मामाजी मिल गये। महाराज ने उनसे कहा—जडावचन्द्रजी! आज-कल तो आपने उपाश्रय में आना भी छोड़ दिया।

मामाजी—कैसे आएँ? आपने मेरे भागिनेय को भरमा लिया है। आपने यह भी नहीं सोचा कि वह कितना दुबला है! उससे पैदल विहार किस प्रकार हो सकेगा? और उसके माथे में कितने फोड़े हैं। ऐसी स्थिति में वह केश-लोंच का कष्ट कैसे सहन कर सकेगा?

महाराज—यह सब ठीक है, परन्तु आपको पता है कि हम आज्ञा लिये बिना एक तिनका भी नहीं ले सकते तो आपके भागिनेय को कैसे ले जाएँगे?

दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि अणु या स्थूल, जड़ या चेतन किसी भी वस्तु को जो आज्ञा के बिना नहीं लेता, वही महाव्रतों को पालन करने वाला कहलाता है।

साधु का चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करने

के लिए केवल स्त्रीप्रसंग की ही मनाई नहीं है; किन्तु मन, वचन, काय से स्त्रीप्रसंग करना नहीं, कराना नहीं, करने वाले का अनुमोदन करना नहीं, ऐसा विधान किया गया है। इतना ही नहीं, संसार की समस्त स्त्रियों को—देवागनाओं और अप्सराओं को माता के समान समझना होता है। भगवान् ने इस व्रत की रक्षा के लिए नौ वाड़ और दशवाँ कोट बतलाया है।

इसी प्रकार परिग्रह भी नहीं रखना चाहिए। किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व नहीं होना चाहिए और कोई भी आवश्यक वस्तु अपने पास नहीं रखनी चाहिए। काल के अनुसार अनेक आचार्य मिलकर जो नियम बनाते हैं, वह जिताचार कहलाता है और जिताचार के अनुसार व्यवहार करना भगवान् की ही आज्ञा में माना जाता है। अतएव जिताचार में जिन वस्तुओं को रखने की अनुज्ञा दी गई है, उनसे अधिक कोई भी वस्तु साधु के पास नहीं होनी चाहिए। उदाहरणार्थ—शास्त्रों में लकड़ी की कामी रखने का विधान नहीं है, किन्तु जब से शास्त्र लिपिबद्ध हुए तब से जिताचार के अनुसार उसे पास रखने की आवश्यकता हो गई है। अतएव जिताचार और शास्त्र में प्ररूपित वस्तुओं के अतिरिक्त कोई भी चीज नहीं रखनी चाहिए, और जो वस्तुएं रक्खी हैं उनके प्रति ममता न रखना; यह साधुओं का अपरिग्रह व्रत है। साधु, ज्ञान को उत्तेजन दो, इतना तो कह सकता है, परन्तु यह नहीं कह सकता कि ज्ञानप्रचार के लिए पैसे दो।

मान लीजिए, किसी के पास दो शास्त्र हैं। एक शास्त्र को वह स्वयं काम में लाता है और दूसरा काम में नहीं आता। फिर भी शिष्य या और किसी साधु के माँगने पर भी अगर वह नहीं देता तो समझना चाहिए कि उस पर उसका ममत्व है। शास्त्र के भंडार भर रखना और उन्हें कीड़ों

का भक्ष्य बनाना भी ममत्व का ही परिणाम है। अपरिग्रह महाव्रत के पालन के लिए इस प्रकार का ममत्वभाव सर्वथा त्याज्य है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! इस प्रकार महाव्रत की प्रतिपक्षी भावना को जो दूर नहीं करता, वह महाव्रतों का पालन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जो रसगृद्ध है, वह भी अनाथ ही है।

मुनि कहते हैं—मुनि के दो मार्ग हैं—समिति का मार्ग और गुप्ति का मार्ग। यद्यपि मुनि का लक्ष्य गुप्ति ही है, परन्तु समिति लक्ष्य तक पहुँचाने का साधन है। जो इस साधन का त्याग कर देता है, वह अपने आपको साधुता से दूर रखता है। सच तो यह है कि समितियों का अवलम्बन लिये बिना साधु अपने लक्ष्य तक पहुँच ही नहीं सकता।

पाच समितियों और तीन गुप्तियों में साधुता की समस्त क्रियाओं का समावेश हो जाता है। जो साधु ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और परिष्ठापनिकासमिति का पालन नहीं करता, वह वीरों के मार्ग पर नहीं चल सकता, वह तो अनाथ के मार्ग पर भटकता है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २४ वें अध्याय में पाच समितियों और तीन गुप्तियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। पाच समितियों मे पहली ईर्या-समिति है। ईर्यासमिति का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विवेक बतलाया गया है। कहा गया है कि साधु जब चलने लगे तो यही विचार करे कि मैंने सब काम छोड़ दिये हैं, इस समय मुझे केवल चलने का ही काम करना है। इस प्रकार विचार कर चलते समय साधु को अपना मन एकाग्र रखना चाहिए। जैसे पानी से परिपूर्ण घट मस्तक पर रख कर पनिहारी

चलते समय सावधानी रखती है, उसी प्रकार मुनि को भी चलते समय सावधानी रखनी चाहिए।

कल्पना कीजिए, राजा का कोई नौकर राजा के काम के लिए बाहर निकला। राजा ने उससे कहा था— काम बहुत आवश्यक है, जल्दी लौट आना।

नौकर जब काम के लिए बाहर निकला तो रास्ते में नाटक हो रहा था। एक नटी हाव भाव दिखाकर नाच रही थी। नौकर खेल देखना चाहता था। आप वहाँ हों तो नौकर को क्या सलाह दें ? यही न कि खेल-तमाशे में न अटक कर पहले मालिक का काम करना चाहिए। परन्तु वह नौकर खेल देखने के लिए रुक गया। इतने में कोई उसका हितैषी आया और उसने कहा—अरे, तू यहा क्यों अटक गया ? पहले राजा का काम कर। राजा प्रसन्न हो जायगा तो इस प्रकार का खेल तो तू अपने घर पर ही करा सकता है।

यही बात मुनि के विषय में समझो। मुनियों ने स्वेच्छापूर्वक अपना नाम भगवान् के सेवकों मे लिखाया है। उन्होंने किसी की जोर जबर्दस्ती से नही, अपनी आन्तरिक इच्छा से ही चारित्र ग्रहण किया है। भगवान् ने साधुओं को आज्ञा दी है कि साधुओं के लिए लक्ष्य तो तीन गुप्तिया ही हैं; किन्तु उन्हें समितियों की किंचित् भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। भगवान् की इस आज्ञा के अनुसार मुनि गुप्तियो और समितियों का पालन करने को तैयार हुए हैं। किन्तु अगर हम मुनि इस आज्ञा की उपेक्षा करके नाटक की तरह संसार के झंझट में पड़ जाएँ तो आप हमारे हितैषी होकर हमें क्या सलाह देंगे ? हम ईर्यासमिति का ध्यान न रक्खें तो आप हमसे क्या

कहेंगे ? यही तो कहेंगे कि छलांगे भरते क्यों चलते हो ? इधर-उधर नजर फिराते क्यों चलते हो ? क्या साधु इस प्रकार चल सकता है ? क्या आप हमसे यही नहीं कहेंगे ? भले ही आप विनय और नम्रता के साथ कहेंगे, मगर हमारे हितैषी होने के नाते यह तो कहेंगे ही कि—'आप भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हुए हैं, अतएव मन को एकाग्र करके ईर्यासमिति का ध्यान रखते हुए यतनापूर्वक चलिए।'

सेठ अमरचंदजी (पीतलिया) समितियों का इतना ध्यान रखते थे कि वे देखते ही जान लेते थे कि अमुक साधु ईर्यासमिति और भाषासमिति का ज्ञाता और पालनकर्त्ता है या नहीं ? उन्हें किसी भी प्रकार की त्रुटि दिखाई देती तो वे स्पष्ट कह देते थे।

एक बार पूज्य श्रीलालजी महाराज विहार करते-करते जा रहे थे। रास्ते में उन्हें महासती माताजी मिलीं। उनकी ईर्यासमिति देखकर पूज्यश्री अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—महासतीजी ईर्यासमिति का बराबर ध्यान रखती हैं।

जैसे सेना का अपना एक निशान होता है, उसी प्रकार ईर्यासमिति साधुओं का चिह्न है अतः साधुओं-साध्वियों को ईर्यासमिति का खूब ध्यान रखना चाहिए। उन्हें सदैव खयाल रखना चाहिए कि हम संसार की धमाल देखने में या किसी के साथ बातें करने में ईर्यासमिति की अवहेलना न कर बैठें। अगर हम ससार की धमाल देखने में न पड़ें और भगवान् की आज्ञा को यथावत् पालने का ही ध्यान रखें तो, राजा की आज्ञा का पालन करने से नौकर को जितना लाभ होता है, उससे भी अधिक लाभ हमें होगा।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि कोई साधुओं से कुछ कहता है तो वे उलटे दबाने लगते हैं। साधु की भूल बतलाने पर साधु उसे स्वीकार करके प्रतिक्रमण करले और शुद्ध हो जाय और साथ ही भविष्य में ऐसी भूल न करने का ध्यान रक्खे तो ठीक है, किन्तु अगर कोई साधु कहे—'हम साधुओं से कहने वाले तुम कौन होते हो?' और यह कह कर नाराज हो जाय तो समझना चाहिए कि वह साधु सुधर नहीं सकता। शास्त्र में कहा है कि साधु को अगर कोई व्यक्ति घर में पानी भरने वाली दासी भी शिक्षा दे तो उसे भी स्वीकार करना चाहिए, उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। उससे भी नहीं कहना चाहिए कि 'तू हमसे कहने वाली कौन है?'

कहा जा सकता है कि अगर साधु ईर्यासमिति का ध्यान न रक्खे और कहना भी न माने तो ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? साधुओं के बिना काम भी तो नहीं चल सकता। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अगर आप अपनी आत्मा को शुद्ध रक्खें और दृढ़ता का परित्याग न करें तो साधुओं को रास्ते पर आना ही पड़ेगा। तुम किसी साधु को सावधान करो और वह तुम्हारा कहना न माने तो तुम्हें समझ लेना चाहिए कि यह साधु ईर्या-भाषासमिति का परिपालन करने वाला नहीं है; किन्तु अनाथता में पड़ा है। इस प्रकार तुम अपनी आत्मा को दृढ़ रक्खो तो साधुओं को सुधरने के सिवाय और कोई मार्ग ही नहीं है।

दूसरी भाषासमिति है। दूसरे को व्यथा पहुंचाने वाली कटु अथवा सावद्य भाषा बोलने का मुनि को अधिकार नहीं है। आज साधुओं में भाषा संबंधी विवेक बहुत कम देखा जाता है। साधुओं के लेख देखो तो उनकी भाषा से जानना कठिन होगा कि यह लेख साधु का है या गृहस्थ का?

कदाचित् कहा जाय कि मुनि का आशय पवित्र होता है तो क्या गृहस्थ का आशय पवित्र नहीं होता ? आशय भले पवित्र हो, फिर भी भाषा संबंधी विवेक तो होना ही चाहिए। श्री दशवैकालिक-सूत्र, श्री आचारांग-सूत्र और श्री पन्नवणा सूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया है कि साधुओं को कैसी भाषा बोलनी चाहिए और कैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए ?

साधु-भाषासमिति का ज्ञाता हो तो अपने सयम की रक्षा करने के साथ संसार का सुधार भी कर सकता है। उदाहरणार्थ - कोई कहे कि साधु विवाह पद्धति में सुधार कर सकता है या नहीं ? साधारणतया यही कहा जायगा कि विवाह से साधुओं का क्या सरोकार ? परन्तु जानकार साधु विवाह-पद्धति का सुधार करने के लिए तुम्हारे सामने मेघकुमार जैसे का चरित उपस्थित करेगा, जिससे कि विवाहपद्धति मे सुधार किया जा सके। मेघ-कुमार के चरित में 'सरिसवया, सरिसतया' आदि का जो उल्लेख पाया जाता है और इन उल्लेखों द्वारा जो विवाह पद्धति निर्दिष्ट की गई है, उसे समझ कर साधु क्या विवाह पद्धति में सुधार नहीं कर सकता ? विवाह पद्धति की ही तरह गर्भ-क्रिया के विषय में भी सुधार किया जा सकता है। इसके लिए भी किसी का चरित उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु साधु को यह नहीं भूलना चाहिए कि उसे अपने संयम की रक्षा करनी है। अतएव उसकी भाषा में किसी प्रकार का दूषण न आ जाय। साधु को ध्यान रखना चाहिए कि—मैं संसार के प्रवाह मे न बह जाऊँ, वरन् संसार से पार उतर सकूँ।

अभिप्राय यह है कि शास्त्र, साधु को बोलने की मनाई नहीं करता, परन्तु विवेक-पूर्वक बोलने के लिए कहता है।

तीसरी एषणासमिति है। साधुओं को इस समिति का पालन करने में

भी बहुत ध्यान रखना चाहिए। एषणासमिति का धारक मुनि जैसी निर्दोष वस्तु मिले वही ले लेता है। जिन्होंने भक्ति कराने के लिए, पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से माथा मुंडाया है, उनकी बात तो छोड़ ही दीजिये; किन्तु जिन्हें साधु-धर्म का पालन करना है, उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् ने एषणा संबंधी जो नियम बतलाये हैं, वे व्यर्थ नहीं हैं। आत्मा सुख का अभिलाषी है और सदा सुख की ही खोज करता है। किन्तु सुख पाने की इच्छा का त्याग करके साधु को इसी बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कहीं साधु-धर्म से च्युत न हो जाएँ।

शास्त्र यों तो बहुत गहन है, किन्तु साथ ही वह ऐसी सरल और लाभप्रद बातें सरलता से समझाता है कि साधारण से साधारण मनुष्य को भी समझने में कठिनाई नहीं होती। दशवैकालिक सूत्र में कहा है:—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोअस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स॥

जो श्रमण सदैव सुख के पीछे पड़ा रहता है, इसमें सुख मिले, यहां आराम मिले, इस प्रकार सोचा करता है और अनेक चालें चलता रहता है कि लोगों की भक्ति भी कम न हो जाय और सुख का मार्ग भी बंद न हो जाय, भगवान् कहते हैं कि ऐसा साधु, धर्म की अवहेलना करने वाला है। वह इस लोक में भी सुन्दर परिणाम नहीं ला सकता और परलोक में भी अच्छा काम नहीं पा सकता।

जिसकी आत्मा अपने वश में नहीं है और जो रसलोलुप है, वह एषणासमिति को भंग करता है। किन्तु उचित मार्ग यह है कि जिससे एषणासमिति का बराबर पालन न होता हो उसे साफ कहना चाहिए कि

मेरी यह अपूर्णता है कि मै इस समिति का ठीक तरह पालन नहीं कर सकता। ऐसा कहने से उस की अपूर्णता प्रकट होगी, किन्तु सिद्धान्त का तो विरोध नहीं होगा; इसके विपरीत जो अपनी अपूर्णता छिपाता है और एषणा को पाखण्ड कहता है, वह निर्ग्रन्थप्रवचन की अवहेलना करता है। ऐसे श्रमण को सद्‌गति मिलना कठिन है।

'सुखशील बनकर मौज करना और मौज करने के कार्य को भी उज्ज्वल नाम देना और भावुक भक्तों की श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाना साधुओं का धर्म नहीं है। साधुओं का धर्म तो यह है कि वह स्पष्ट कह दे कि शास्त्र का विधान तो ऐसा है; परन्तु मैं अपनी अपूर्णता के कारण उसका पालन करने में असमर्थ हूँ। जो पूर्ण रूप से एषणासमिति का पालन करता है उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

एषणासमिति का बराबर पालन करने वाला महात्मा ही स्व-पर का कल्याण कर सकता है। जो साधु इस प्रकार अपनी अपूर्णता को स्पष्ट स्वीकार कर लेता है और शास्त्र की अपूर्णता नहीं बतलाता, शास्त्र उसकी उतनी निन्दा नहीं करता जितनी शास्त्र विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले की निन्दा करता है। जो लोग सयम का शास्त्रोक्त रीति से पालन नहीं करते, और अपनी अपूर्णता स्वीकार करते हैं, वे किसी न किसी दिन तो संयम का पालन कर सकेंगे और अपनी अपूर्णता दूर कर सकेंगे, किन्तु जो अपनी अपूर्णता ही नहीं मानता उसका सुधार होना कठिन है।

चौथी आदान-निक्षेपणसमिति है। साधुओं को इसका भी ध्यान रखना और पालन करना चाहिए। भंडोपकरणों को यतना से धरना उठाना चाहिए। प्रथम तो साधु को धर्मोपकरण के सिवाय और कोई वस्तु अपने

पास रखनी ही नहीं चाहिए, और जो धर्मोपकरण हैं उनके रखने-उठाने में भी बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

पाँचवी उच्चारप्रस्रवणसमिति का पालन करने में भी साधु को यतनावान् होना चाहिए। मल-मूत्र आदि को इस प्रकार परठना चाहिए कि जिससे लोगों को जुगुप्सा न हो। जो आहार करता है, उसे निहार करना ही पड़ता है; किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि निहार किस प्रकार किया जाय और कहाँ किया जाय ?

मैं जंगल जाते-आते समय म्यूनिसिपैलिटी की कचरा की गाड़ियाँ, जो सामने पड़ जाती हैं, देखता हूँ, उनमें से दुर्गन्ध फूटती है; किन्तु जरा विचार कीजिए कि उनमें वह दुर्गन्ध कहाँ से आई ? आप लोगों ने अपने-अपने घर में जो गंदगी की, वही उस गाड़ी में आई। आप गंदगी साफ करने वाले लोगों की निन्दा करते हैं, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं, नीचा समझते हैं और अपने आपको ऊंचा मानते हैं, किन्तु विचारने योग्य बात है कि गंदगी फैलाने वाले ऊँचे और गंदगी की सफाई करने वाले नीचे, यह किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

शास्त्र में साधुओं को चेतावनी दी गई है कि जब तुम जंगल जाओ तो कैसी जगह देखनी चाहिए ? जिस ग्राम में तुम्हें चातुर्मास करना है, वहाँ जंगल जाने की जगह पहले देख लो अगर उपयुक्त जगह न दिखाई दे तो समिति का सम्यक् प्रकार से पालन न हो सकने के कारण वहाँ चौमासा करने से इन्कार कर दो। इस प्रकार समिति की रक्षा के लिए दूसरे ग्राम में चातुर्मास करने वाला साधु आराधक है। इससे विपरीत यह सोच कर कि, शहरों में तो योंही धमाल रहती है, समिति की उपेक्षा करने वाले विराधक है।

पाँचवीं समिति का पालन करने का साधुओं को बहुत ध्यान रखना चाहिए। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि समिति का पालन तो ग्राम में रहकर ही किया जा सकता है, नगर में रहने वाले साधु नहीं कर सकते। समिति तो ग्रामों में रहने वाले साधुओं का आचार है। शहर में रहने वाले साधुओं से समिति का यथावत् पालन नहीं हो सकता। इस कथन का अर्थ तो यह हुआ कि नगर में विचरने वाले साधुओं का शास्त्र अलग और ग्रामों में विचरने वाले साधुओं का शास्त्र अलग होना चाहिए।

कई लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का बहाना करके समिति की उपेक्षा करते हैं उनके अनुसार महाव्रतों का पालन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख-देखकर करना चाहिए। परन्तु जो लोग इस प्रकार बच निकलने का रास्ता खोजते हैं, वे शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। जो शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं, वे धीर-वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाला शास्त्र के मार्ग पर चलता है।

कोई कह सकता है—शास्त्रों की रचना हजारों वर्ष पहले हुई है, आज बदली हुई परिस्थितियों में उनके अनुसार किस प्रकार चला जा सकता है? और ऐसा कहकर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्र विरुद्ध व्यवहार करता है, वह भी वीरों के मार्ग पर नहीं चलता। शास्त्र तो त्रिकालज्ञ द्वारा कथित है। उन्हें वर्त्तमान का— आज की परिस्थितियों का, ज्ञान नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करता है, वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की कहावत के अनुसार पतित हो जाता है।

नगरों की रचना से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ है। यही नहीं,

बल्कि हानि हुई है। यूरोप के लोग भी यह मानने लगे हैं कि बहुत लोगों के एकत्र होकर रहने में अनेक हानियाँ हैं। शरीर में रक्त यथास्थान न रह कर एक जगह इकट्ठा हो जाय तो व्याधि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार ग्राम उजड़-उजड कर नगर बस रहे हैं और इससे अनेक हानियां उत्पन्न हो गई हैं।

विचारणीय बात है कि नागरिक लोग ग्रामों के सहारे जीवित हैं या ग्रामीण लोग शहर पर निर्भर हैं? दूध, घी और अन्न आदि कहाँ से आता है? ग्राम न होते तो क्या शहरों में दूध, घी आदि पदार्थ आवश्यक परिमाण में उपलब्ध हो सकते थे? शहरों में तरह-तरह के खिलौने मिल सकते हैं, मगर जीवन की आवश्यक वस्तुएँ तो ग्रामों में ही मिलती हैं। शहरों में जो घी-दूध आदि मिलता है, नकली मिलता है। चरबी कहाँ कहाँ मिलता है? नगरों में या ग्रामों में? नगर के लोग अक्सर ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, जिनसे जीवन में और अधिक सकट उत्पन्न होता है। जिंदगी को टिकाये रखने वाली वस्तुएँ ग्रामों में ही उत्पन्न होती हैं। अन्न, वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थ ग्रामो से ही पैदा होते हैं। अतएव नगरनिवासियों को ग्रामवासियों का उपकार मानना चाहिए।

हाँ, तो अभिप्राय यह है कि नगर के मनोमोहक वायु-मंडल से आकर्षित न होकर साधुओं को ऐसे स्थानों में ही विचरण करना चाहिए, जहाँ उनकी समिति में बाधा न आती हो। जिस स्थान पर रहने से चरित्र में बाधा हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए। ऐसा करने पर ही साधु पुनः अनाथता में पड़ने से बच सकता है।

अनाथ मुनि कहते हैं - पहले पहल मनुष्य अनाथ होकर भटकते हैं।

सौभाग्य से जब उन्हें अनाथता से निकल कर नाथ बनने का अवसर मिलता है तो उनमें से कई लोग कायरता के वशीभूत होकर पुनः अनाथ बन जाते हैं। वस्तुतः आत्मतत्त्व को आत्मा में स्थिर रखना बहुत ही कठिन है। परन्तु जो इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करता है, वही निहाल हो जाता है।

आज विकारी लोगों को देखकर सभी को विकारी समझ लिया जाता है। कतिपय साधुओं को साधुता से पतित देखकर सब साधुओं की निन्दा की जाती है मगर ऐसा करना भूल है। विश्वविद्यालय कि परीक्षा देने वालों में से क्या सभी उत्तीर्ण हो जाते हैं? कोई अनुत्तीर्ण नहीं होते? लेकिन विद्यार्थियों के अनुत्तीर्ण होने से क्या विश्वविद्यालय या दूसरे विद्यालय बंद कर दिये जते हैं? नहीं; क्योंकि जो पढता है वह भूलता भी है।

साधुता भी भगवान् अरिहन्त का एक विश्वविद्यालय है। इसमें अभ्यास करने वालों में से कोई भूलता भी है और कोई अनुत्तीर्ण भी होता है। पर शास्त्र, भूलने एवं अनुत्तीर्ण होने वालों को ठीक नहीं समझता, उनकी निन्दा करता है ऐसी स्थिति में अनुत्तीर्ण होने वालों को लेकर साधुता की शाला की ही निन्दा करना या इस शाला में अभ्यास करने वाले सब लोगों को बुरा समझना कैसे ठीक कहा जा सकता है? यद्यपि अभ्यास करने वालों से भूल भी होती है, तथापि साधुओं को सावधान रहना चाहिए। यह तो व्यवहार की बात है, इसमें क्या पड़ा है? ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि हम अभी व्यवहार मे ही हैं, वीतराग नहीं हुए हैं। भगवान् भी व्यवहार द्वारा ही निश्चय में गये थे। अतएव व्यवहार की अवहेलना करना उचित नहीं। व्यवहार का पालन करके निश्चय में जाना ही अनाथता में से निकल कर सनाथ बनना है।

अभ्यास करने वाला विद्यार्थी भूल जाय तो क्षम्य हो सकता है, परन्तु शिक्षक ही भूल जाय तब तो गजब ही हो जाय। इसी प्रकार दूसरे भूलें तो भूलें, पर जिन्होंने महापुरुषों की सूची में अपना नाम लिखवाया है, उन्हें नहीं भूलना चाहिए। उन्हें तो बहुत सावधानी रखनी चाहिए और सावधानी रखते भी भूल हो जाय तो उस भूल को भूल मान कर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! जो लोग साधु होकर फिर अनाथ बन जाते हैं, वे वीर के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। प्रश्न होता है—मुनि ने ऐसा क्यों कहा? कई लोगों का कहना है कि साधु का आचार गृहस्थ से नहीं कहना चाहिए। गृहस्थ के सामने साधु का आचार कहने की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु आप लोग साधारण गृहस्थ नहीं हैं, श्रमणोपासक हैं। अतएव आपको अपने उपास्य का लक्षण समझना चाहिए। मुनि, राजा श्रेणिक को सम्बोधन करके समस्त संसार को समझा रहे हैं कि साधुओं को धीर-वीर पुरुष का मार्ग अपनी दृष्टि के समक्ष रखना चाहिए। नाम त्यागियों में लिखाना और काम त्यागियों का न करना उचित नहीं है।

कायरों के मार्ग पर चलने वाला कौन है? इस सम्बंध में अनाथ मुनि कहते हैं कि जो समितियों आदि का ध्यान नहीं रखता वह कायरों के मार्ग पर चलने वाला है।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, कायर लोग इन पाच समिति के पालन में असावधानी रखते हैं। कार्य का अभ्यास करने में गल्ती होना दूसरी बात है। किसी वीर से यदि इस प्रकार गल्ती हो भी जावे, तो वह अपनी गल्ती निकालने की चेष्टा करेगा और भविष्य में सावधानी रखेगा। अभ्यास में

गल्ती-होने मात्र से कोई साधु, कायर नहीं कहलाता। क्योंकि, छद्मस्थ अपूर्ण है लेकिन बहुत से लोग, जानबूझ कर पॉच समिति की अवहेलना करते हैं, समिति की उपेक्षा करते हैं और दिन प्रति दिन इस ओर से पतित होते जाते हैं। ऐसा करने वाले कायर लोग, वीर-मार्ग के पथिक और पञ्च महाव्रत के पूर्ण आराधक नहीं हैं। यद्यपि कायर लोग, समितियाँ न पालने में, पच महाव्रत का भङ्ग नहीं समझते, लेकिन वास्तव में, पंच महाव्रत भङ्ग हो जाते हैं। क्योंकि, पंच महाव्रत का-सूक्ष्म रूप से पालन तभी सम्भव है, जब पांचों समिति का भली प्रकार पालन किया जावे। यद्यपि पच महाव्रत एवं पंच-समिति का पूर्णतया पालन तो, यथाख्यात-चरित्रवाला ही कर सकता है, लेकिन इस ओर गति करना, प्रमाद न करना, प्रत्येक साधु का कर्त्तव्य है। अपने इस कर्त्तव्य को समझ कर, जो साधु सावधानी रखता है, उससे यदि कभी कोई गल्ती हो भी जावे, तो वह पतित नहीं कहलाता। पतित तो तभी कहलाता है, जब जानबूझ कर उपेक्षा की जावे और जो गल्ती हुई है, उसे सुधारने की चेष्टा करने के बदले और बढ़ने दे।

हे मुनियों! तुम्हारा पद, चक्रवर्ती राजाओं एवं देवताओं से भी बड़ा है। देवता लोग, चक्रवर्ती के सामने अपना मस्तक नहीं झुकाते, लेकिन तुम्हारे आगे अपना मस्तक झुकाते हैं। चक्रवर्ती राजा भी, तुम्हारे दर्शन को लालायित रहता है। ऐसे प्रतिष्ठित पद को पाकर भी, पाच समिति के पालन में सावधानी न रखने पर, तुम्हारी गणना, कायरों एवं पतितों में होगी। इस के साथ ही, जिस उद्देश्य से तुमने घर-बार छोड़ा है, जिस ध्येय को लेकर सासारिक सुख त्याग, संयम में प्रवर्जित हुए हो, समिति पालन में असावधानी रखने पर, उसकी भी पूर्ति नहीं होगी। तुम्हारे पद की प्रतिष्ठा, तुम्हारे ध्येय

की पूर्ति, एवं गृह-संसार छोड़ने से लाभ, तभी है, जब तुम पंच महाव्रत के साथ ही पञ्च समिति के पालन में सावधानी रखो। यदि तुम से कोई गल्ती भी हो जावे, तो उसका प्रतिशोधन करो, लेकिन उसे बढ़ने मत दो। पहाड़ पर से एक पाव फिसला और दूसरे पाव से उसी समय सम्हल गया, तब तो गिरने से रुक जाता है, और यदि दूसरे पाव को भी ढील दे दी, तो लुढकता हुआ नीचे ही चला जाता है। इसी प्रकार, पाँच समिति के पालन में कोई गल्ती हो जावे और उसी समय अपनी गल्ती को मान कर, भविष्य के लिए सम्हल जाओगे, तब तो तुम्हारी गणना कायरों में न होगी। तुम दूसरी अनाथता में न पड़ोगे, अन्यथा, सनाथी मुनि के कथनानुसार तुम कायर एवं अनाथ के अनाथ ही माने जाओगे। तुम्हारे लिए, इससे अधिक लज्जा की बात क्या होगी? इसलिए पंच महाव्रत एवं पंच-समिति के पालन में, किंचित् भी असावधानी या प्रमाद मत करो। एक कदम आगे बढ़ाने वाला, वीर माना जाता है और एक कदम पीछे हटाने वाला, कायर माना जाता है। तुम अधिक आगे न बढ़ सको तब भी, पीछे तो कदम मत हटाओ। यानी तुमने जिस चरित्र को स्वीकार किया है,उस के पालन में, तो प्रमाद मत करो। तुम्हें समिति गुप्ति के पालन में, किस प्रकार एकाग्रचित्त रहना चाहिए, इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक पराधी, शिकार की ताक लगाये बैठा था। उसके पास होकर एक बारात निकली। थोड़ी ही देर बाद, उसी बारात के कुछ आदमियों ने पारधी के पास आकर, पारधी से पूछा, कि क्या इस तरफ से बारात निकली है? पारधी ने उत्तर दिया—कि मैंने नहीं देखी। उनने पूछा तुम यहां कितनी देर से हो? पारधी ने उत्तर दिया—सुबह से। उन लोगों ने कहा कि जब

तुम यहाँ सुबह से हो, तो तुमने बारात अवश्य ही देखी होगी। क्योंकि उस बारात के जाने का मार्ग यही था। पारधी ने उत्तर दिया—कि यदि गई भी हो तो मुझे पता नहीं। मैं, शिकार की ताक में बैठा था, बारात की ओर ध्यान क्यों देने लगा?

हे मुनियो! वह पारधी, रुद्रध्यान में था। उस ध्यान से उसे हिंसा करनी अभीष्ट थी। उस रुद्रध्यान में भी, वह ऐसा एकाग्रचित्त रहा, कि उसे पास से गाती बजाती हुई बारात निकल जाने की भी खबर न हुई, तो तुम्हें धर्मध्यान में अपना चित्त कैसा एकाग्र रखना चाहिए! इसका विचार करो।

चिरंपि से मुण्डरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे।
चिरंपि अप्पाण किलेसइत्ता; न पारए होइ हु संपराए ॥४१॥

अर्थ—अपने-स्वीकृत व्रतों मे स्थिर न रहने वाला और तप तथा नियम मे भ्रष्ट हो जाने वाला चाहे चिरकाल तक सिर मुंडित रक्खे और आत्मा को क्लेश में डालता रहे, फिर भी ससार से पार नहीं होता।

व्याख्यान—अनाथ मुनि, राजा श्रेणिक से कहते हैं—राजन्! जो सिर मुंडाता है और कष्ट सहन करता है, किन्तु समितियों का पालन नहीं करता और व्रतों मे अस्थिर होकर तप-नियमों से भ्रष्ट हो जाता है, वह कष्टों को सहन करता हुआ भी संसार-सागर का पार नहीं पाता। वह सनाथ नहीं बन सकता।

प्रश्न हो सकता है—जब वह व्रत, तप एव नियम का पालन करने में अस्थिर रहता है तो फिर मस्तक क्यों मुंडाता है? इसका उत्तर यह है कि वह व्रत-नियम आदि का पालन न करके भी लोगों को अपने आगे

नमाने के लिए और अपनी महिमा बढ़ाने के लिए मस्तक मुंड़ाता है। यह उसकी एक प्रकार की चालबाजी है। आजकल प्रायः देखा जाता है कि चालबाजी करने वाला दुकानदार अपनी दुकान का भपका अधिक रखता हैं। पूज्य श्रीलालजी कहा करते थे—दुनिया को ठगने वाले लोग यह कहावत चरितार्थ करते हैं—

रोटी खाना शक्कर से,
दुनिया ठगना मक्कर से।

इस प्रकार कई लोग अपनी महिमा बढ़ाने के लिए मस्तक मुंडाते हैं और लोगों को ठगते हैं। ऐसे ठग तप-नियमों की अवहेलना करते हैं और कहते हैं—उपवास करना भूखा मरने के समान है। उपवास करने में रक्खा ही क्या है। वे व्रतों और नियमों के विषय में भी यही कहते हैं कि व्रतों और नियमों से कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार व्रत नियम आदि को कष्टकर एव व्यर्थ समझते हुए भी वे लोग अपनी महिमा बढ़ाने के लिए साधु वेष धारण करते हैं और सिर मुडाते हैं। ऐसे लोगों को सद्गति दुर्लभ है।

कहा जा सकता है कि संसार के समस्त जीव सुख-साता चाहते हैं तो फिर सुख-साता की इच्छा करने वाले साधु की ही टीका-टिप्पणी क्यों की जाती है? इसका उत्तर यह है कि यदि वह साधु संयम का बराबर पालन करे तो उसे अपूर्व सुख-साता की प्राप्ति होगी। शास्त्र में कहा है कि एक महीने का दीक्षित साधु व्यन्तर देवों के सुख को मात कर देता है और एक वर्ष का दीक्षित साधु सर्वार्थसिद्ध विमान के सुख को लांघ जाता है। ऐसा होने पर भी जो साधु उस सुख को भूल जाता है और सांसारिक

सुख-साता में पड जाता है, वह अपनी ही हानि करता है।

किसी डाक्टर ने बीमार को दवा देकर कहा—अमुक काल तक दवा का सेवन करना और इन-इन चीजों का परहेज रखना। बीमार अगर डाक्टर के कथनानुसार नियमित रूप से औषध का सेवन करे और पथ्य का पालन करे तो उसका रोग चला जाता है और वह स्वस्थ होकर सभी चीजों को खाने-पीने के योग्य बन जाता है। और यदि रोगी औषध का सेवन न करे और खान-पान में परहेज न रक्खे तो डाक्टर उसके लिए क्या कहेगा ? यही न कि इसने मेरी दवा की अवहेलना की है।

इसी प्रकार महात्मा कहते हैं—'हे मुनियों! तुम संयम का बराबर पालन करो और कष्टों को सहन करो तो तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। अगर संयम का यथावत् पालन न करोगे तो डाक्टर की दवा के समान सयम को भी व्यर्थ गॅवा देना होगा।' इसी प्रकार वे कहते हैं—'जो सुख-साता का गवेषक है, अर्थात् सुखशील बनकर हाथ पैर धोने में लगा रहता है और सयम का पालन नहीं करता, वह धर्म रूपी औषध को वृथा गॅवा बैठता है। साधुओं! तुम्हें किसी ने जबर्दस्ती करके साधु नहीं बनाया है। स्वय उच्च भावना से प्रेरित होकर तुम साधु बने हो। अतएव साधुता का यथावत् पालन करके अपना और जगत् का कल्याण करो। सयम के पालन में ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण है।'

केवल केश-लोंच आदि बाह्य क्रिया करने से कोई जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो सकता। जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए, संसार के समस्त कष्टों से छूटने के लिए और अनाथता से निकलकर सनाथ बनने के लिए आवश्यक है कि संयम ग्रहण करते समय लिये गये व्रत-नियम आदि में

प्रमाद न करे; बल्कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ, सावधान और सतर्क रह कर उनका पालन करे।

केश-लोंच करने में कितना कष्ट होता है, यह जानने के लिए अगर आप अपने मस्तक का एक केश उखाड़ देखें तो आप को अनुभव हो जाएगा। इस प्रकार का कष्ट सहन करने पर भी व्रत-नियम का पालन न किया जाय तो ससार को पार नहीं किया जा सकता।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि केशोत्पाटन करने से कष्ट भी होता है और मस्तिष्क की शक्ति को हानि भी पहुचती है। ऐसी स्थिति मे उस्तरे से सिर क्यो न मुँडवा लिया जाय? मैं जब छोटा था तो बदनावर ग्राम में एक मुसलमान ने ऐसा ही प्रश्न किया था। उसने कहा था—जब आपका धर्म दयामय है तो केशों का लोंच करने से क्या हिंसा नहीं होती? जिसका केश-लोच किया जाता है, उसे कष्ट होता है अत. यह हिसा का कार्य है।

इस प्रश्न को सुनकर मैने उससे प्रश्न किया—तुम हजामत क्यों करवाते हो? अच्छे दीखने के लिए ही तो? हजामत कराते-कराते नाई की असावधानी से कभी कभी चमड़ी कट जाती है और रक्त निकल आता है और कष्ट होता है। फिर भी अपनी शौक के लिए तुम उस कष्ट से नहीं डरते और हजामत करवाते हो। मगर अपनी कायरता के कारण केश-लुचन में हिंसा होने की बात कहते हो। तुम तो शौक के लिए इतनी तकलीफ सह लेते हो और हम धर्म के लिए सहते हैं, इसमे हिंसा की बात कहते हो! वास्तव में हम केशलुचन मे कष्ट नही मानते। हॉ, केश खींचते समय थोड़ा सा कष्ट जान पड़ता है, लेकिन हम उसे प्रसन्नता-

पूर्वक सहन कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि तुम हजामत का कष्ट सहन कर लेते हो।

रह गई मस्तक को हानि पहुँचने की बात। सो अगर केश-लोंच से मस्तक को हानि पहुचती तो भगवान् कदापि यह मार्ग न बतलाते। यही नहीं, मेरा अनुभव तो यह है कि केशलोंच के पश्चात् यदि बादाम आदि का तेल मला जाय तो मस्तक की शक्ति और आखों की ज्योति बढती है।

उस्तरा से बाल बनवाने पर बाल ज्यादा बढते हैं, परन्तु भगवान् ने केशलोंच का ऐसा उपाय बतलाया है कि जिससे धारे-धीरे केशों का उगना ही बद हो जाता है।

केशलोंच करने से कष्ट होता है, मगर उघाडे पैर चलने से भी तो कष्ट होता है। तो जैसे केशलोंच के कष्ट से बचने के लिए उस्तरा रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है, उसी प्रकार पैरों को कष्ट से बचाने के लिए पालकी की भी आवश्यकता पडेगी। इसी प्रकार शील का पालन करने मे भी कष्ट भोगने पड़ते हैं। उन कष्टों से बचने के लिए स्त्री की आवश्यक्ता अनुभव की जायगी। इस प्रकार कष्ट से बचने के लिए छूट ली जायगी तो धीरे धीरे दीक्षा का ही उच्छेद हो जायगा।

इन्द्र ने नमिराज से कहा था—क्यों धर्म के पीछे पडे हो? देखते नहीं रनवास में कितना रुदन हो रहा है। हिंसा का कैसा पाप हो रहा है! फिर आप इस पाप को क्यों दूर नहीं करते?

इस प्रश्न के उत्तर मे नमिराज ने कहा था—मेरी दीक्षा के कारण कोई नहीं रो रहा है, सब अपने-अपने स्वार्थ के लिए रो रहे हैं। दीक्षा लेने से पहले तो मैं दूसरों को दड भी देता था और हाथ में तलवार लेकर

दूसरों को भयभीत भी करता था, मगर दीक्षा लेने के बाद अगर कोई मेरे सामने तलवार लेकर आ जाय तो मैं आँख भी लाल नहीं करूँगा। ऐसा करने पर मैं संयम से गिर जाऊँ। इस प्रकार ये सब मेरी दीक्षा के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए रोते हैं।

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अहिंसा को आगे किया जाय तो दीक्षा का ही उच्छेद हो जाय। साधुओं के लिए वर्ष में एक बार केश-लोंच करना अनिवार्य है; यों कोई-कोई तीन बार और कोई-कोई चार बार केश-लोंच करते हैं। केश-लोंच करते समय कोई-कोई साधु स्वाध्याय भी करते जाते हैं और प्रसन्नता पूर्वक केश-लोंच करते हैं। परन्तु आज लोगों में कायरता आ गई है और इसी कारण दया के नाम पर इस प्रकार का प्रश्न किया जाता है।

अहिंसा की रक्षा के लिए ही साधुओं को केश-लोच करना आवश्यक बतलाया गया है। भगवान् का कथन है कि मस्तक पर केश रहेंगे तो जीवों की उत्पत्ति भी होगी और अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकेगा। अहिंसा की दृष्टि से केश-लोंच का विधान न किया गया होता तो बाल सँवारने और तेल मालिश करने आदि की प्रवृत्ति भी बढ गई होती। इसी से भगवान् ने यह उपाय बतलाया है। अगर उस्तरा से बाल बनाने का विधान कर दिया जाता तो उस्तरे के साथ काच भी रखना पड़ता, तेल भी रखना पड़ता और इस प्रकार आरंभ की प्रवृत्ति बढ जाती। धीरे-धीरे साधु अपने ध्येय से विलग हो जाते।

मुनि कहते हैं साधुओ! अगर तुम तप-नियम की आराधना न करोगे तो शास्त्र तुम्हें अनाथ की कोटि में रखता है। इस दशा में तुम

साधु नहीं हो। चारित्रनिष्ठ बने बिना केवल सिर मुंडा लेने या केश-लोंच कर लेने से संसार को पार नहीं किया जा सकता। अतएव चारित्रवान् बनो और संयम पालकर जन्म-मरण का उच्छेद करो।

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे,
अयन्तिए कूड कहावणे वा।
राढामणि वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥
कुसीललिंगं इह धारइत्ता,
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजय लप्पमाणे,
विणिग्घायमागच्छइ से चिरंपि ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बंद की हुई भी खाली मुट्ठी निस्सार है, और मणि के समान चमकता हुआ भी काच का टुकड़ा असार है तथा खोटा सिक्का भी सारहीन है, जानकार के सामने इनका कुछ भी मूल्य नहीं है, उसी प्रकार व्रत-नियम से रहित किन्तु साधु का वेष धारण करने वाला भी—वास्तव में असंयमी होता हुआ भी अपने आप को सयमी बतलाने वाला, चिरकाल तक दुःख भोगता है।

व्याख्यान—महानिर्ग्रन्थ मगध सम्राट् से कहते हैं— राजन् ! मैं तुम्हें सनाथ-अनाथ का भेद समझाता हूँ। अनाथता को समझ लेने पर सनाथता को समझना सरल है। नकली रत्न को पहचान लेने पर सच्चे

रत्न की परीक्षा करना सरल होता है। कोई मनुष्य खाली मुट्ठी बद करके किसी को बतलावे तो देखने वाला यही समझेगा कि अवश्य इसमें कुछ होगा। पर जिसने मुट्ठी बद की है, वह तो भलीभाँति जानता है कि मेरी मुट्ठी खाली है! फिर भी वह जान-बूझ कर दूसरों को ठगने के लिए मुट्ठी बंद करता है, सोचता है—दूसरों को क्या पता चलेगा कि मेरी मुट्ठी खाली है! मगर उसे समझना चाहिए कि मैं लोगों को ठगता हूँ, यह मेरी निर्बलता है।

राजन्! जैसे खाली मुट्ठी को बद करके ठगना ढोंगी आदमी का काम है, उसी प्रकार व्रत-नियमों का पालन न करना और ऊपर से साधु-वेष पहन कर अपने आप को साधु कहना भी ढोंगियों का काम है। सच्चा और भद्र पुरुष खाली मुट्ठी बंद करके किसी को ठगेगा नहीं, इसी प्रकार साधु-धर्म का पालन न कर सकने वाला भद्र पुरुष, जो ढोंगी नहीं है, स्पष्ट कह देगा कि मुझसे साधुता का पालन नहीं हो सकता। वह खाली मुट्ठी बद करके लोगों को ठगने का ढोंग कदापि नहीं करता।

कहा जा सकता है कि साधुता का पालन न हो सके तो खाली मुट्ठी को बंद रखना अच्छा या खोल देना अच्छा है? अर्थात् साधुता का ऊपरी दिखावा रखना अच्छा या न रखना अच्छा है। इसका उत्तर यह है कि किसी कूप को ऊपर से ढँक देना, जिससे कि दूसरे लोग उसे कूप न समझकर गिर जाएँ, अच्छा नहीं है। इससे तो कूप को खुला रखना ही अच्छा है। ऐसा होने से कोई भ्रमवश कूप में नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार जब साधुता का पालन न हो सकता हो तो स्पष्ट कह देना उचित है, ढोंग करना उचित नहीं। भगवान् ने कहा है कि लोग असाधु की पूजा करें और

उसे साधु मानें तो समझना चाहिए कि वह विषम काल है ।

आजकल इन्द्र जाल के खेल बहुत कम होते हैं, पहले बहुत होते थे। उन खेलों में क्षण भर में कंकरों के रुपये बना दिये जाते थे । खेल करने वाला रुपये बना-बनाकर फैंकता जाता है फिर भी देखने वाले तो समझते हैं कि यह रुपया केवल दिखलाने के लिए ही है अगर सचमुच ही इस प्रकार रुपये बनाये जा सकते तो बनाने वाला पैसे पैसे की भीख क्यों माँगता ?

जिस प्रकार इन्द्र जाल का खेल करने वाला कौतुक करके जगत को ठगता है, उसी प्रकार वे भी जगत को ठगने वाले हैं जो वास्तव में साधुता का पालन नहीं करते, फिर भी साधुता का ढोंग करते हैं। ऐसे ढोंगियों की बदौलत ही नवयुवकों का धर्म के प्रति श्रद्धाभाव कम होता जा रहा है । इन्हीं के कारण लोग कहते सुने जाते हैं कि धर्म ने बहुत आडम्बर फैलाया है और दुनिया मे हाहाकार मचाया है, अतएव धर्म की आवश्यकता नहीं है ।

धर्म पर ऐसे आरोप करने वाले युवक भी बहुत उतावल करते हैं । उन्हें समझना चाहिए कि धर्म के नाम पर अगर आडम्बर हो रहा है तो इसमें धर्म का क्या दोष है ? कोई भी धर्म आडम्बर का समर्थन नहीं करता-अपने भीतर उसे प्रश्रय नहीं देता। और जब तुम आडम्बर को ही दूर करना चाहते हो तो यह क्यों नहीं कहते कि हम अधर्म का विरोध करते हैं ? तुम आडम्बर को दूर करना चाहते हो तो धर्म को क्यों बदनाम करते हो ? धर्म का विरोध क्यों करते हो ? आडम्बर के कारण धर्म का विरोध करना कितनी भूल भरी बात है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझिए:—

किसी मनुष्य ने एक रींछ के साथ मित्रता की। दोनों एक दूसरे के पक्के मित्र बन गये। रींछ एक बार सो रहा था। उसका मित्र उसके शरीर पर बैठने वाली मक्खियों को उडाने लगा। थोडी देर बाद रींछ जगा और अपने मित्र से कहने लगा—अब तुम सो जाओ। मैं मक्खियाँ उड़ाऊँगा। वह मनुष्य सो गया और रींछ मक्खियाँ उड़ाने लगा। परन्तु मक्खियों का तो स्वभाव होता है - एक जगह से उड़कर दूसरी जगह बैठना। अतएव वे अपने स्वभाव के अनुसार एक जगह से उड़कर दूसरी जगह बैठने लगीं। रींछ ने विचार किया—यह मक्खियाँ बड़ी दुष्ट हैं। इन्हें मार डालना चाहिए। यह विचार कर मक्खियों को मारने के लिए वह एक बड़ी-सी लाठी उठा लाया। उसे ज्ञान नहीं था कि लाठी से मक्खियों को मारूँगा तो मेरे मित्र पर भी मार पडेगी।

रींछ तो अज्ञान प्राणी ठहरा। अतएव उसने मक्खियों को मारने के उद्देश्य से अपने मित्र को ही लाठी जमा दी। पर आप तो मनुष्य हैं, समझदार हैं। आपको ऐसी मूर्खता नहीं करनी चाहिए। आडम्बर के कारण धर्म की अवहेलना न हो, इस बात की सावधानी रखना आवश्यक है। आप ढोंग का नाश करना चाहते हैं, यह बहुत ठीक है। शास्त्र भी ढोंग को दूर करने का आदेश देता है। किन्तु ढोंग को दूर करने के नाम पर धर्म का विनाश करने का प्रयत्न मत करो। ऐसा करना मक्खियों को मारने के लिए अपने मित्र को मारना होगा। धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है:—

धारयतीति धर्मः।

जो पतित होने से बचाता है, वह धर्म है। परन्तु आज भूल से लोग

पतित करने वाले को, पीछे हटाने वाले को धर्म समझते हैं।

एक लेखक ने लिखा है कि मेरी चले तो मै धर्म को ताक में रख दूँ और गरीबों को महलों में बसा दूँ। पर मैं पूछता हूँ कि गरीबों को महलों में बसाने वाले अमीरों को कहाँ बसाएँगे ? उन्हें झोंपड़ों में बसाओगे ? क्या यही समस्या का समाधान है ? एक को गिरा कर दूसरे को ऊँचा चढ़ाना क्या उचित है ? धर्म इस प्रकार का राग-द्वेष करने से रोकता है। वह सब का समान भाव से अभ्युदय चाहता है। किसी के साथ पक्षपात नहीं करता।

फिर भी जो धर्म के अनुयायी हैं, जो धर्म को जगत का कल्याण कर्त्ता मानते हैं, उन्हें सावधान होना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि नवयुवकों को धर्म के प्रति द्वेष उत्पन्न होने का कारण धर्मात्मा कहलाने वालों का ढोंग है। अगर धर्मात्मा कहलाने वाले धर्म का बराबर पालन करें और किसी के प्रति राग-द्वेष न रखें तो कोई धर्म की निन्दा नहीं कर सकता, कोई धर्म का विरोध नहीं कर सकता।

अनाथी मुनि ने दूसरा उदाहरण खोटे सिक्के का दिया है। खोटे सिक्के का कोई संग्रह नहीं करता। उसे चलाने की कोशिश करने वाला सरकार का अपराधी समझा जाता है और दंड का पात्र होता है।

एक पुस्तक में खोटे सिक्के के संबंध में एक कहानी पढ़ी थी। उसमें लिखा था—बादशाह औरंगजेब धर्म का बड़ा कट्टर था। वह चाहता था कि सारा संसार मुसलमान बन जाय। उसकी इस अभिलाषा का पता इस उक्ति से भी लगता है:—

शिवाजी न होत तो सुन्नत होती सब की।

औरंगजेब का समय धार्मिक कट्टरता का समय था। एक बार उसने विचार किया—सब को मार-पीट करके भी इस्लाम में लाना चाहिए। अगर मैं इतना भी न कर सका और अल्लाह ताला के धर्म को न फैला सका तो मेरा बादशाह होना ही बेकार हो गया।

बादशाह के मित्रों में एक लालदास नामक बाबा भी था वह दरबार में भी आता-जाता था। बादशाह ने सोचा—अगर यह बाबा मेरी इच्छा का समर्थन कर दे तो मेरी मुराद पूरी हो जाय और सब काम सरल हो जाय। ऐसा सोचकर उसने बाबा लालदास से पूछा—बाबाजी, मुझे दुनिया की बन्दगी करनी चाहिए या खुदा की?

बाबा—इसमें पूछने की बात ही क्या है? बन्दगी तो खुदा की ही करनी चाहिए।

बादशाह—यह तो ठीक है, मगर बादशाह को अपनी हैसियत के मुआफिक ही खुदा की बन्दगी करनी चाहिए न?

बाबा—यह भी ठीक है।

बादशाह—तो खुदा की बन्दगी के लिए मैंने यह विचार किया है कि जो लोग राजी-खुशी मुसलमान होने को तैयार नहीं, उन्हें मारपीट करके जबरदस्ती कलमा पढ़वा दिया जाय और मुसलमान बना लिया जाय। कहिए, मेरा यह विचार ठीक है या नहीं?

बाबा—आपके मन में जो विचार आया है, उसे देवदूत भी नहीं बदल सकता। दूसरों की तो बात ही क्या है।

बादशाह—ठीक है, सबसे पहले आपको ही मुसलमान बनना होगा।

बाबा—मैं आपसे कहाँ दूर हूँ? जब मैं आपको सलाह दे रहा हूँ और

आप जबर्दस्ती ही मुसलमान बना रहे हैं, तो मैं कैसे बच सकता हूँ?

इस प्रकार वार्तालाप होने के पश्चात् लालदास अपने स्थान पर चले गये और सोचने लगे—बादशाह को किस प्रकार समझाना चाहिए? आखिर उन्होंने एक उपाय सोच लिया और वह उपाय करने के लिए अपने चेले को समझा दिया।

दूसरे दिन बाबाजी बादशाह के पास बैठे थे कि उसी समय उनका चेला वहाँ आया और बाबाजी से कहने लगा—यहाँ के सराफ बहुत ही बदमाश हो गए हैं।

बाबा—क्यों, क्या हुआ?

चेला—मै यह रुपया लेकर पैसा लेने गया था, पर उन लोगों ने पैसा नहीं दिया।

बाबा—सराफों ने क्या कहा?

चेला—कहते हैं, रुपया खोटा है। इसके पैसे नहीं मिल सकते। उन्होंने यह भी कहा कि तुम बाबाजी के चेले हो, इसी से छोड़ देते हैं। अन्यथा तुम्हारी रिपोर्ट करके दंड दिलाते। अब अपना रुपया लेकर चुपचाप चले जाओ।

बादशाह यह सब बात सुन रहा था। उसने बाबाजी से पूछा—क्या बात है?

बाबाजी—यहाँ के सराफ इतने बदमाश हो गये हैं कि बादशाह के सिक्के को भी नहीं मानते। देखिए, मेरा चेला रुपया लेकर वापिस लौटा है। इस पर बादशाह की छाप है, फिर भी सराफों ने उसे खोटा कह कर फैंक दिया।

आलमगिरी का कायदा प्रसिद्ध है। कहते हैं—अंगरेजों ने भी उस कायदे का बहुत सा हिस्सा अपने कायदे में लिया है।

बादशाह ने बाबाजी से रुपया लेकर देखा और पूछा—यह रुपया आपको किसने दिया है? आपको मेरे कानून का पता नहीं है? यह रुपया खोटा है और खोटा रुपया चलाने वाले को मैं सख्त दंड देता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपने यह रुपया बनाया नहीं होगा; पर आपको यह रुपया दिया किसने है?

बाबा—यह खोटा है तो क्या हो गया? इस पर बादशाह की छाप तो है ही।

बादशाह—मेरा सिक्का सच्चा होना चाहिए। मेरी छाप होने पर भी खोटा सिक्का बनाना और चलाना गुनाह है।

बाबाजी—ऐसा! तो खुदा के नाम पर किसी पर जुल्म गुजारना और मार मार कर मुसलमान बनाना क्या गुनाह नहीं है? ऐसा करना क्या खोटा सिक्का चलाने के समान अपराध नहीं है?

बादशाह समझ गया। उसने पूछा—तब क्या करना चाहिए? बाबा बोले—कोई अपनी मर्जी से मुसलमान बने तो बात अलग है, परन्तु धर्म के लिए सब को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

इसी प्रकार अनाथ मुनि भी खोटे सिक्के का उदाहरण देकर कहते हैं- बुद्धिमान् पुरुष खोटे सिक्के का संग्रह नहीं करते। संसार-व्यवहार के अनुसार जिनके पास अधिक सिक्के होते हैं, वह बड़ा आदमी माना जाता है, मगर वह सिक्के सच्चे हों, खोटे न हों। इसी प्रकार जो व्रत नियमों में तो अस्थिर है किन्तु ऊपर से साधु बना बैठा है, वह खोटे सिक्के के समान है। उसकी

कोई बुद्धिमान् कद्र नहीं करता। सत्पुरुषों की सेवा से पापी भी सुधर जाता है, ढोंगी की सेवा से कोई लाभ नहीं होता।

अनाथ मुनि तीसरा उदाहरण देते हैं। कहते हैं काच का टुकड़ा कितना ही क्यों न चमकता हो और हीरा-पन्ना जैसा क्यों न दृष्टिगोचर होता हो, फिर भी वह रत्न नहीं है और रत्न जितनी कीमत उसकी नहीं आँकी जाती। कोई व्यक्ति काच के टुकड़े को रत्न कह दे तो अज्ञानी ही उसे सत्य मान सकता है। जानकार उसे रत्न नहीं मान सकता।

मुनि यह तीन उदाहरण देकर कहते हैं—जैसी खाली मुट्ठी, खोटा सिक्का और काच का टुकड़ा असार हैं, उसी प्रकार व्रत-विषयों के अभाव में कोरा साधुवेष और बाह्यक्रिया भी असार है। जो बाहर से साधुता का प्रदर्शन करता है और अन्दर दूसरा ही भाव रखता है, साधुता के पालन का भाव नहीं रखता, वह भी असार है।

इन उदाहरणों को किसी भी दृष्टि से घटाया जा सकता है। कहावत प्रसिद्ध है: -

ऊँची सी दुकान, फीके पकवान;
पांच सौ की पूंजी पर, पन्द्रह सौ का दिवाला है।

अर्थात्—पूंजी तो थोड़ी है, पर ऊपरी दिखावा बहुत है, जिससे कि लोग उसे धनवान् समझकर अपना धन सौंप जाएँ!

यही बात उन साधुओं के लिए भी समझनी चाहिए जो साधुपन की पूंजी न होने पर भी ऊपर से ढोंग दिखलाते हैं। सच्चा तत्त्वज्ञानी अन्दर कुछ और रखकर तथा बाहर से कुछ और बतलाकर किसी को ठगने का प्रयत्न नहीं करेगा।

यद्यपि अनाथी मुनि ने जो कुछ कहा है, साधुओं को लक्ष्य में रखकर कहा है, तथापि उनका कथन सभी पर लागू होता है। श्रावकों को भी भीतर कुछ और बाहर कुछ बतलाने से बचना चाहिए। शास्त्र में कहा है: -

मायी मिच्छदिट्ठी, अमायी सम्मदिट्ठी।

अर्थात्—जो अन्दर कुछ रखता है और बाहर कुछ और ही दिखलाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि तो वह है जो कपटभाव न रखता हुआ भीतर-बाहर एक-सा होता है।

कदाचित् कोई कहे—यद्यपि हम श्रावक हैं, फिर भी आखिर तो गृहस्थ ठहरे! ऊपर का भभका न रक्खें तो काम कैसे चले? हमें 'पालिस' रखनी ही पड़ती है। परन्तु इस विषय में ज्ञानी कहते हैं:—

उघरे अन्त न होई निवाहू

काल नेमि जिमि रावण राहू।

तुलसीदासजी कहते हैं—रावण साधु बना था, परन्तु साधुधर्म का पालन करने के लिए नहीं, किन्तु राम और सीता को ठगने के लिए। वह सोचता था कि इस वेष से उन्हें ठगने में सहूलियत होगी। अपना मतलब गाठने के लिए जो भी उपयुक्त उपाय हो, करना चाहिए। इसी दृष्टि से वह साधु बना था, किन्तु अन्त में कलई खुल कर ही रही। आखिर परिणाम क्या आया? उसने धर्म के नाम पर ठगाई जरूर की, पर वह ठगाई क्या चल सकी? नहीं। ऐसा विचार के समझदार लोग ढोंग नहीं करते और जनता को धोखा नहीं देते। वे तो आत्मा को शांत और सरल बनाने में दत्तचित्त रहते हैं।

एक योगी ने योगसाधना सीख लेने के पश्चात् दूसरे योगी से कहा—

देखो, योगसाधना में मैंने जो सफलता प्राप्त की है, उसका चमत्कार अभी आपको बतलाता हूँ। दूसरे ने कहा—योगसाधना में सफलता पाने वाला कभी अपने मुँह से ऐसी बात नहीं निकालता। तुम्हारे कहने से जान पड़ता है कि तुमने योग नहीं सीखा। तब पहला योगी कहने लगा—आपका यही विचार है तो लीजिए, अभी बतलाता हूँ कि मैंने कैसा योग सीखा है।

इतना कह कर उस योगी ने सामने से आते हुए एक हाथी पर दृष्टि फेंकी। हाथी मूर्छित होकर जमीन पर ढह पड़ा। तब वह मुस्कराता हुआ कहने लगा—देखा, मेरे योग का प्रभाव!

दूसरा योगी इसमें क्या योग है। यह काम तो दूसरी तरफ से भी हो सकता है। अपने मन रूपी मतङ्ग को गिरा देने और उसका दमन करने में योग की सफलता है। इस प्रकार के चमत्कार दिखलाने में योग की सफलता नहीं है।

साधु पुरुष ऐसे चमत्कार दिखलाने और लोगों को ठगने में कदापि प्रवृत्त नहीं होते। कुछ लोगों के कथनानुसार चमत्कार को नमस्कार होता है, अतएव चमत्कार अवश्य दिखलाना चाहिए, किन्तु साधुओं को तो अहंकार को जीतने का ही चमत्कार दिखलाना चाहिए। इसी में उनका श्रेय है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! साधुपन दुनिया को ठगने के लिए तथा लोगों को अपने चरणों में झुकाने के लिए नहीं है। साधुपन लेकर उसका बराबर पालन न करना और लोगों को झुकाने के लिए ऊपर से ढोंग करना तो खाली मुट्ठी को बन्द करके दूसरों को बतलाने के समान है। खाली और बन्द की हुई मुट्ठी को दूसरा भले भरी हुई समझ ले, पर मुट्ठी

बन्द करने वाला तो भलीभांति समझता है कि मेरी मुट्ठी खाली है। इसी प्रकार दिखावटी साधुपन से भले दूसरे धोखे में आ जाएँ, परन्तु वह स्वयं तो समझता ही है कि मैं वास्तव में साधु नहीं हूँ। फिर इस प्रकार की ठगाई करने से क्या लाभ है? धर्म के नाम पर लोगों को ठगने की नीचता के समान और क्या नीचता हो सकती है? कहा है:—

जीभ सफाई करके भाई धर्मी नाम धरावे।
पोली मुट्ठी जहा असोर यों बतलावे॥

हृदय में कुछ रखना और ऊपर से कुछ और दिखलाना एक प्रकार की ठगाई है।

कहा जा सकता है— तो फिर साधु न बनना ही अच्छा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मान लीजिए, एक आदमी कहता है पाठशाला में जाने वाले कितने ही लोग मूर्ख भी होते हैं अथवा मूर्ख भी कहलाते हैं। अतएव मैं पाठशाला में नहीं जाता और इसलिए मूर्ख भी नहीं कहलाता। यों कह कर वह पाठशाला में नहीं जाता। दूसरा आदमी पाठशाला में जाता तो है पर बराबर पाठ याद नहीं करता और शिक्षक के हाथों मार खाता है। शिक्षक उसे मूर्ख भी कहता है। तीसरा पाठशाला जाता है और बराबर पाठ तैयार करता है।

इन तीन प्रकार के आदमियों में से आप किसे अच्छा समझते हैं? आप यही कहेंगे कि पाठशाला न जाने वाला पहला आदमी तो नालायक ही है। उसका भविष्य सदैव अन्धकारमय रहेगा। उसके सुधार की कोई संभावना नहीं है। हाँ, दूसरा मनुष्य, जो पाठशाला जाता है पर बराबर अभ्यास नहीं करता, किसी न किसी दिन सुधर सकता है तीसरा मनुष्य तो उत्तम है ही।

साधुपन के विषय में भी यही समझना चाहिए। संसार में कोई-कोई तो ऐसे होते हैं जो कहते है—धर्म का नाम भी मत लो। ऐसे लोग धर्म स्वीकार नहीं करते, धर्म का पालन नहीं करते और धर्म का नाम-निशान भी रहने देना नहीं चाहते। दूसरे प्रकार के लोग धर्म को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु बराबर पालन नहीं करते। तीसरी श्रेणी वाले धर्म को स्वीकार भी करते हैं और पालते भी हैं। इसी तरह संसार में तीनों तरह के लोग हैं। विचारणीय बात यह है कि जिन्होंने धर्म को स्वीकार ही नहीं किया, उन्हें धर्म की टीका करने का क्या अधिकार है? जो पाठशाला में गया नहीं और जाता भी नहीं, उसे पाठशाला की बुराई करने की क्या आवश्यकता है? परन्तु आज धर्म तो बिना बाप का बेटा—अनाथ—हो रहा है। कौन उसकी हिमायत करे? जो चाहता है वही उसकी बुराई करने लगता है!

अभिप्राय यह है कि जो धर्म की शिक्षा को ही स्वीकार नहीं करता फिर भी धर्म की टीका-टिप्पणी करता है, वह अयोग्य और अभव्य के समान है। दूसरे प्रकार का मनुष्य वह है जो धर्म को शाला में जाता है, धर्म को अंगीकार करता है और लिंग भी धारण करता है किन्तु धर्म का पालन नहीं करता। ऐसा व्यक्ति यद्यपि धर्म का पालन करने वाले से निम्न कोटि का है, फिर भी पहले व्यक्ति से अच्छा है। यह धर्म को अंगीकार न करने वाले की अपेक्षा भी बुरा नहीं कहा जा सकता। भावना तो यही होनी चाहिए कि मैं निरपवाद धर्म का पालन कर सकूँ, फिर भी कोई ऐसा न कर सकता हो तो उसे अपनी दुर्बलता मानना चाहिए और किसी भी प्रकार के दम्भ का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

अनाथ मुनि खोटे रुपये का उदाहरण देकर कहते हैं—जैसे खोटे रुपये का कोई संग्रह नहीं करता, साहूकार अपनी तिजोरी में स्थान नहीं देता, उसी प्रकार ज्ञानी जनों की दृष्टि में वह साधु आदर नहीं पाते, जो वास्तव में साधुपन नहीं पालते, किन्तु ऊपर से साधु होने का दिखावा मात्र करते हैं।

आप एक रुपया लेते हैं तो भी परख कर और बजाकर लेते हैं। जान बूझ कर खोटा रुपया नहीं लेते। यही नहीं, साहूकार लोग खोटे रुपये को उसी समय काट डालते हैं।

इसी प्रकार काच कितना ही चमकदार क्यों न हो, जानकार उसे हीरा नहीं मानता। यही बात साधुओं के विषय में भी समझ लो। हाँ, जैसे आज काच और हीरा को परखने वाले कम हैं, उसी प्रकार साधु और असाधु को परखने वाले भी कम हैं; फिर भी जो परखने वाले हैं, उनके सामने साधुता का पालन न करने वाले किन्तु साधु का वेष पहनने वाले प्रतिष्ठा नहीं पा सकते।

अनाथ मुनि कहते हैं—जैसे खोटे रुपये की और काच की कोई कीमत नहीं, उसी प्रकार कुशील-लिंगी साधु की भी कोई प्रतिष्ठा नहीं।

शास्त्र में पाँच प्रकार के कुशील कहे गये हैं, जो अवन्दनीय हैं। शास्त्र में उनका वर्णन करते कहा गया है कि कुशीलों को वन्दना-नमस्कार करने से प्रायश्चित आता है। कुशील का अर्थ है—'कुत्सितशील यस्य सः कुशीलः।' अर्थात् जिसका आचार निन्दित हो, वह कुशील कहलाता है।

बाजार में सड़ी नारंगी भी मिलती है और अच्छी नारंगी भी मिलती

है। नारंगी तो दोनों कहलाती हैं, परन्तु पैसा देकर खरीदने वाला कैसी नारंगी खरीदेगा? आकार-प्रकार में तो सड़ी नारंगी भी अच्छी जैसी दिखाई पड़ती है, फिर भी खरीददार अच्छी ही खरीदेगा, सड़ी नहीं। उसी प्रकार शास्त्र कहता है कि वेशभूषा वगैरह में कुशीललिंगी भी साधु जैसा ही दिखाई देता है, मगर साधुता-असाधुता का पारखी कुशीललिंगी को आदर नहीं दे सकता।

मुनि कहते हैं—साधु का लिंग-मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि-मुनीश्वरों का चिह्न है। साधुता है अथवा नहीं, यह बात तो बाद में मालूम पड़ती है, पहले तो चिह्न ही देखा जाता है और उसी से साधु की पहचान होती है। सिद्धान्त में भी कहा है: –

लोगे लिंगपओयणं।

अर्थात्—लोक से लिंग का भी प्रयोजन है। यद्यपि निश्चय में लिंग की आवश्यकता नहीं रहती, पर लोक में तो लिंग की आवश्यकता रहती ही है। लिंग के अभाव में मर्यादा भंग हो जाती है। उदाहरणार्थ—आवश्यकता तो तालाब के पानी की है, लेकिन पाल के बिना पानी नहीं रह सकता। इसी प्रकार आवश्यकता तो धर्म की है, मगर संसार में धर्म चलाना है, अतएव लिंग की भी आवश्यकता है। तालाब की पाल बाँधने में जितनी मिहनत पड़ती है, उतनी पानी लाने में नहीं पड़ती। तालाब में पानी आ जाय, किन्तु पाल न हो तो वह टिक नहीं सकता। कोई मनुष्य पाल तोड़ने लगे तो उससे यह नहीं कहा जाता कि तू पाल को हानि पहुँचाता है, मगर यही कहा जाता है कि तू पानी को हानि पहुँचा रहा है।

इसी प्रकार दीक्षा देने में मिहनत नहीं करनी पड़ती। दीक्षा तो हृदय

में ही होती है। परन्तु दोक्षा देना और मुंहपत्ती बाँधना या वेष पहनना दीक्षा की पाल बाँधने के समान है। निश्चय में तो पगड़ी पहनने वाले में भी साधुता हो सकती है, परन्तु वेष की पाल बँधी न होने से वह साधुता टिक नहीं सकती। अतएव वेष भी काम की वस्तु है और साधुता को टिकाये रखने में सहायक है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान से विचलित हो गये थे, किन्तु जब उन्होंने मस्तक पर हाथ फेरा, तब ख्याल आया कि—अरे, मैं तो साधु हूँ! यह क्या कर रहा हूँ! यह ख्याल आते ही वे फिर ध्यान में स्थिर हो गये। अगर उन्होंने मस्तक न मुंडाया होता और मस्तक पर मुकुट-धारण किया होता तो क्या वे फिर ध्यान में स्थिर हो गये होते? इस प्रकार वेष साधुता की पाल है और उसकी आवश्यकता भी है। हाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पाल केवल पाल ही न रह जाय! किसी तालाब की पाल तो बाँध दी गई, पर उसमें पानी नहीं आया तो केवल पाल ही पाल रह जाएगी—तालाब खाली कहलाएगा। इसी प्रकार कोरा वेष ही धारण किया जाय और साधुता का पालन न किया जाय तो वह खाली तालाब के समान है। पानी की आवश्यकता होने पर भी पाल की आवश्यकता है; इसी प्रकार साधुता की आवश्यकता के साथ लिंग की भी आवश्यकता है। शास्त्र में अनेक स्थानों पर पाठ आता है:—

तहारूवाणं समणाणं निग्गंथाणं।

यहां 'तहारुवाणं' पद देकर सबसे पहले लिंग को आवश्यक बतलाया गया है। यहां कहा गया है कि साधु 'तथारूप' होना चाहिए। क्योंकि पहले रूप दिखाई देता है। साधुपन तो बाद में मालूम पड़ता है।

इस प्रकार जो रूप साधुओं का परिचायक है और ऋषीश्वरों का चिह्न

है, उसे भी कुशीललिंगी लोग अपनी आजीविका का साधन बना लेते हैं और असंयमी होने पर भी अपने आपको संयमी कहलवाते हैं। अनाथ मुनि कहते हैं—ऐसा करने वाले अनन्त काल तक संसार में भटकते हैं।

जो पाठशाला में अभ्यास करने ही नहीं जाता, वह मूर्ख है। अतएव उसके सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। शिक्षक उसी को दण्ड देता है जो पाठशाला में जाकर भी बराबर अभ्यास नहीं करता। यद्यपि शिक्षक का दिया दण्ड भोगना पड़ता है, लेकिन दण्ड भोगने वाला एक दिन विद्वान् बन जाता है। परन्तु चतुर विद्यार्थी तो पहले ही सोच लेता है कि मैं शाला में जाता हूँ तो मुझे बिना दण्ड भोगे बराबर अभ्यास करना चाहिए। मैं क्यों दण्ड सहन करूँ? इसी प्रकार सजा भुगते बिना, पहले से ही निर्दोष संयम का पालन करने वाला श्रेष्ठ गिना जाता है।

विसं तु पीयं जह कालकूडं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो,
हणाई वेयाल इवाविवन्नो ॥ ४४ ॥

अर्थ—जैसे पिया हुआ कालकूट विष मार डालता है, बुरी तरह पकड़ा हुआ हथियार काट डालता है, अविधि से जपा हुआ मंत्र प्राणनाशक होता है, उसी प्रकार विषय भोग-मिश्रित यतिधर्म (व्रत-नियम से रहित साधुवेष) भी अनिष्ट परिणाम उत्पन्न करता है।

व्याख्यान—अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक के समक्ष जो उद्गार निकाले हैं और जिन्हें गणधरों ने अपने हित के लिए शास्त्र में गूंथा है, उन्हें सुन

कर आप भी अपनी आत्मा को पवित्र बनाओ। अनाथ मुनि ने जो कहा है, साधुओं को लक्ष्य करके कहा है, लेकिन आप मुनियों के साक्षी रूप हैं। उन ने राजा श्रेणिक को साक्षी बनाया था लेकिन आजकल कई लोग लाच लेकर साक्षी देने को तैयार हो जाते हैं। आप ऐसे साक्षी न बनें। आप सच्चे साक्षी बनेंगे तो मुनियों का भी कल्याण होगा और आपका भी कल्याण होगा।

इस गाथा में मार्मिक उपदेश दिया गया है। मुनिराज कहते हैं—जो अनाथता से छूटकर सनाथ बनने को तैयार हुआ है और जिसने धर्म का आश्रय लिया है; फिर भी अगर उसकी विषयवासना छूटी नहीं है; वह विषयवासना की पूर्ति के लिए ही धर्म को धारण करता है तो वह ऐसे मनुष्य के समान है जो जीवित रहने की इच्छा से कालकूट विष का पान करता है। जीवित रहने की अभिलाषा करना और कालकूट विष का पान करना परस्पर विरोधी बातें हैं। इसी प्रकार ऊपर से तो धर्म का उपदेश देना और अन्तरंग में विषयवासना को आश्रय देना जीवन की इच्छा से विष-सेवन करने के ही समान है।

मुनिराज इसी तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए दूसरा उदाहरण देते हैं। मान लीजिए, एक मनुष्य शत्रु को मारने के लिए तलवार लेकर घर से निकला। मगर उसने तलवार उलटी पकड़ी है; अर्थात् मूठ की ओर से न पकड़ कर नोक की तरफ से पकड़ी है। इस तरह उलटी तलवार पकड़ने वाला मनुष्य आपको दिखलाई दे तो आप उसे कैसा समझेंगे? उसे मूर्ख ही समझेंगे न! आप कहेंगे—यह शत्रु को मारने जा रहा है अथवा अपने आपको मारने जा रहा है?

तो जिस प्रकार जीवित रहने की इच्छा से कालकूट विष को पान करने

वाला और शत्रु को मारने के लिए निकलने पर भी उलटा शस्त्र पकड़नेवाला अपनी मृत्यु का ही कारण बनता है, उसी प्रकार जो अपनी विषय वासना का पोषण करने के लिए ही धर्म का ढोंग करता है, वह भी अपना ही अहित करता है।

अनाथ मुनि इसी विषय में तीसरा उदाहरण देते हैं। यह उदाहरण उस समय की स्थिति का तथा उस समय की जनता में फैले भ्रम का द्योतक है। मुनिराज कहते हैं—जैसे कोई मनुष्य दूसरों का भूत भगाने के लिए तैयार होता है, परन्तु अपना रक्षण नहीं करता, और परिणामस्वरूप वह भूत उसी को खा जाता है। इसी प्रकार जो दूसरो को अहिंसा, क्षमा आदि का उपदेश देता है, परन्तु उन्हें स्वीकार करने की प्रतिज्ञा करके भी उनका स्वय पालन नहीं करता, उसकी भी ऐसी ही गति होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे उपर्युक्त तीनों पुरुष जो चाहते हैं उससे विपरीत कार्य करते हैं, उसी प्रकार जो सयम लेकर उसका पालन नहीं करते, वरन् संयम के सहारे अपनी आजीविका चलाते हैं, वे भी विपरीत ही आचरण करते हैं।

इस संसार में कौन अपना कल्याण नहीं चाहता? सब अपना कल्याण चाहते हैं, फिर भी बहुत से कल्याणकारी कार्य नहीं करते। ऐसे लोगों के प्रति शास्त्रकार अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। कोई मनुष्य जीवित रहना चाहता हो और फिर भी जहर पीना चाहता हो। दूसरा मनुष्य उससे कहता है— यह प्राणहारी विष है, इसे छोड़ दे और दूध पी ले। फिर भी वह जहर पीने का ही दुराग्रह करे तो उसे क्या कहना चाहिए? इसी प्रकार एक मनुष्य साधुता को कल्याणकारी मानता है, परन्तु विपरीत मार्ग पर जा रहा है। उसे दूसरा सावधान करता है—'तुम धर्म को उत्तम मानते हो सो तो

ठीक है, पर विपरीत मार्ग पर चल रहे हो'!' इस प्रकार सावधान करने पर भी अगर वह विपरीत मार्ग को न छोड़े और कहे कि हम कुछ भी करें, तुम्हें बीच में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? तो ऐसे लोगों के संबंध में यही कहना पडेगा कि वे मोह में पडे हैं। कदाचित् भूल बतलाने वाला भ्रम में हो और भ्रम के कारण ही उसके द्वारा असत्य कहा गया हो, तो भी जो मोह मे नहीं पड़ा है, वह क्रोध नहीं करेगा। वह नम्रतापूर्वक समझाएगा कि तुम भ्रम में हो। परन्तु जो समझाने के बदले क्रोध करता है, उसके विषय में तो यही समझना होगा कि वह अपना मार्ग भूला है।

नासिरुद्दीन महमूद नामक एक बादशाह हो गया है। यद्यपि वह गुलाम खानदान का था, पर कहा जाता है कि उसका हृदय उदार था। वह अच्छा लेखक था और उसके अक्षर बहुत सुन्दर थे। वह राज्य के पैसे का उपयोग नहीं करता था, वरन् कुरान आदि पुस्तकें लिख-लिख कर बेचता था और उसी से अपनी आजीविका चलाता था।

एक बार उसने अपने हाथों लिखी कुरान की पोथी एक मौलवी को बतलाई। मौलवी ने कहा—इस जगह अनुस्वार (नुकता) होना चाहिए। यह भूल रह गई है।

बादशाह ने अनुस्वार लगा दिया। जब मौलवी चला गया तो उसने वह अनुस्वार हटा दिया। सरदारों ने पूछा—ऐसा करने का प्रयोजन ? अगर अनुस्वार नहीं होना चाहिए तो पहले क्यों बढ़ाया ? और यदि होना चाहिए तो बाद में उसे हटा क्यों दिया ?

बादशाह ने कहा—यद्यपि भूल न थी, पर मौलवी ने भूल बतलाई तो मैंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसा न करता तो मौलवी का चित्त दु:खी

होता। वह बहुत दूर से चलकर आया था। मैं उसकी बात न मानता तो मेरी भूल मुझे कौन बतलाता? मैं भूल बतलाने के लिए उसका उपकार मानता हू। मैं उसकी बात न मानता तो मुझे कोई शिक्षा ही न देता। परिणामस्वरूप मै अपराधी हो जाता।

तात्पर्य यह है कि बादशाह ने अवास्तविक शिक्षा देने वाले पर भी क्रोध नही किया, उलटा उसका उपकार माना। ऐसी स्थिति में जो मुनि होकर भी शिक्षा देने वाले पर नाराज होता है, वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की कहावत चरितार्थ करता है। हाँ, जो क्रोध नहीं करता और अपनी वास्तविकता शान्तिपूर्वक समझा देता है, मानना चाहिए कि वह सन्मार्ग पर है।

जो प्रतिज्ञा जिस रूप में अंगीकार की हो, उसे अन्त तक उसी रूप मे पालना वीरों का मार्ग है। इसके विपरीत घोटाला करने वाला पतित है। अनाथ मुनि के-कथनानुसार विषय-वासना के पोषण के लिए धर्म की सहायता लेना जीवन की आशा से विष का सेवन करना है। अतएव अनाथ मुनि का यह उपदेश सुनकर मुनियों को विचार करना चाहिए कि— मैं ऊर्ध्वगामी होना चाहता हूँ। अगर मैंने अधोगामी होने के कार्य किये तो ऊर्ध्वगामी कैसे हो सकूँगा? अतः हे प्रभो! मुझसे ऐसे काम न हों, जिससे मेरी आत्मा अधोगामी बने। यह तो साधु की बात हुई। आप लोग भी अपने विषय में विचार करें। आप सन्तसेवा के लिए दूर से आये हैं। अगर सन्तों की सेवा विषय-लालसा को पुष्ट करने के उद्देश्य से की तो आपका यह काम विपरीत होगा। आपके अन्तःकरण में विषय-लालसा नहीं होनी चाहिए। आपको तो विषय-लालसा पर विजय प्राप्त करने के लिए

साधुओं की सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार की भावना रखकर साधुओं की सेवा करोगे तो आप कल्याण के भागी बन सकोगे। इसके विरुद्ध अगर आप यह कहें कि–'हम तो कुछ न कुछ चमत्कार देखने के लिए साधुओं के पास आते हैं। साधुओं के पास कुछ चमत्कार होना ही चाहिए। अगर चमत्कार नहीं है तो उनका गृहत्याग करना ही वृथा है! नमस्कार तो चमत्कार को ही होता है!' तो आप मोह में पडे हैं।

संसारी लोगों में कदाचित् ऐसी भावना हो सकती है, परन्तु साधुओं को तो इस प्रकार की भावना पास भी नहीं फटकने देना चाहिए।

ज्ञातासूत्र मे कहा है कि ग्वालिका सती सुकुमालिका के घर गोचरी के लिए गई। सुकुमालिका ने सोचा—इनके पास कुछ चमत्कार तो होगा ही। पहले आहार-पानी दे दूँ, फिर चमत्कार के विषय मे पूछूँगी। उसने प्रीति के साथ आहार-पानी बहराया और फिर हाथ जोडकर उसकी प्रशंसा करती हुई कहने लगी—आर्ये! आप साध्वी हैं, गुप्त ब्रह्मचारिणी हैं। अतएव मैं आपके समक्ष अपना दुःख प्रकट करना चाहती हूँ और उसके प्रतीकार का मार्ग जानना चाहती हूँ। मैं पर-पुरुष की कामना नहीं करती। मेरे पिता ने योग्य पुरुष के साथ मेरा विवाहसंबंध किया था, परन्तु वह मुझे छोड़ कर चला गया फिर मैं एक भिखारी को दे दी गई। दुर्भाग्य से उसने भी मेरा परित्याग कर दिया। अब कृपा करके ऐसा कोई उपाय बतलाइए, जिससे मेरा दुःख दूर हो जाय।

सुकुमालिका की बात सुन कर ग्वालिका सती ने कानों में उँगली डाल कर कहा—इस विषय मे हमें कुछ सुनना भी नहीं कल्पता तो कहने की बात ही दूर रही। हाँ, तुझे संसार अरुचिकर प्रतीत होता हो तो मैं धर्म का

उपदेश दे सकती हूँ ।

सुकुमालिका ने निराश होकर कहा - ठीक है, यही सही ।

ग्वालिका सती ने उसे धर्म का उपदेश दिया । उसकी विषय-वासना उपशान्त हो गई । वह कहने लगी—'परमात्मा को छोड़कर यह शरीर अब किसे सौंपूँ ?'

आशय यह है कि संसार में सब तरह के लोग हैं; मगर आप को इस प्रकार की भावना से बचना चाहिए । फिर भी अगर आप न बच सकें तो हम साधुओं को तो इस प्रपंच से बचना ही चाहिए । आपको भी समझना चाहिए कि जिस धर्म में अनंत शक्ति है, उससे तुच्छ सांसारिक सुख की प्राप्ति की आशा हमें करनी चाहिए ? जो मिलना होगा वह तो लालसा किये बिना भी मिलकर ही रहेगा । लालसा न करने से फल नहीं मिलेगा, यह संभव नहीं है । बल्कि लालसा न करने से अनन्त गुणा फल मिलता है । ऐसा विचार कर धर्म से सांसारिक विषय वासना की पूर्त्ति की आशा न रखने में ही कल्याण है ।

राजा, यही बात साधु-वेश के लिए भी समझ ले । साधु का वेश, संयम के लिए है । साधु वेश से, संयम पालने की पहचान होती है । वेश को देखकर जनता यह जानती है, कि ये वेश धारण करने वाले, पंच महाव्रत के पालक और सनाथ हैं । लेकिन राजा, यदि कोई आदमी केवल वेश धारण किये रहे, पंच महाव्रत का पालन न करे, तो यह खाली वेश, उसे उस दण्ड से कदापि नहीं बचा सकता, जो दण्ड, पंच महाव्रत स्वीकार करके फिर पालन न करने से मिलता है । बल्कि यह थोथा साधु वेश, उस दण्ड में उसी प्रकार वृद्धि करता है, जिस प्रकार अपराध करने

पर, राज-मुद्रा दण्ड में वृद्धि करती है।

राजा, कभी कोई यह कहे, कि साधु-चिन्ह, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखकर, यदि पंच महाव्रत का पालन न किया, तब भी कुछ न कुछ यतना तो करेगी ही। फिर उसने बुरा क्या किया, जो उसे अधिक दण्ड-नरकादि मिलता है? लेकिन राजा, महाव्रतों का पालन न करके भी, वह रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि किस अभिप्राय से रखता है, इसे देखो। पंच महाव्रत का पालन न करके भी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखने से उसका अभिप्राय जयणा करना नहीं है, किन्तु लोगों को धोखा देना है। पंच महाव्रत की घात करके, वह, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि आजीविका के लिए रखता है। यदि यतना के लिए रखता होता, तो पच महाव्रत की घात ही क्यों करता? कोई चोर, पैसों की चोरी न करके, रुपयों की चोरी करे, तो इसका यह अर्थ नहीं है, कि वह इतने अंश मे ईमानदार है। ईमानदार तो तब होता, जब रुपयों की भी चोरी न करता। रुपयों की चोरी करता है इसलिए पैसों की चोरी छोड़ने का कोई मूल्य नहीं है। बल्कि, पैसों की चोरी छोड़कर रुपयों की चोरी करने वाला अधिक धूर्त है। उसने, धूर्तता के लिए पैसों की चोरी छोड़ी है। इसी प्रकार पंच महाव्रत की घात करे और जयणा के नाम पर साधु-लिङ्ग धारण किये रहे, तो यह धूर्तता के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। जिस आदमी को जयणा का ध्यान होगा, वह पंच महाव्रत की घात करे, यह कदापि सम्भव नहीं है।

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे
निमित्त कोऊहल संपगाढ़े।

कुहेडविज्जासवदारजीवी
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥४५॥

अर्थ— जो मनुष्य साधु बनकर स्वप्न एव लक्षण आदि का शुभाशुभ फल बतलाता है, भूकंप या आकाशविग्रह आदि बतलाता है, पुत्र प्राप्ति का उपाय करवाता है, चमत्कार की बातें बतलाता है और इन कार्यों से अपनी आजीविका करता है, वह अन्त समय में दुःखों से त्राण नहीं पा सकता। वह अशरण—अनाथ होता है।

व्याख्यान—मुनिराज ने पहले मूल गुणों की ओर से होने वाली अनाथता बतलाई थी। अब वे उत्तर गुणों की ओर से होने वाली अनाथता का दिग्दर्शन कराते हैं।

मुनि कहते हैं—जो लोग घर-द्वार छोड़ कर साधु बने हैं, उनका फिर विषय-वासना की ओर झुक कर गुलाम बन जाना दुःख की बात है। जो चढ़ता ही नहीं उसकी बात न्यारी है, परन्तु जो ऊँचा चढ़कर नीचे गिरता है, वह सब की नजरों में आ जाता है। उसके लिए हाहाकार मच जाता है। इसी प्रकार जिन्होंने धर्म को अंगीकार नहीं किया, उनकी बात अलग है। मगर जो धर्म को अंगीकार करके बाद में इन्द्रियों के गुलाम बनकर पतित हो जाते हैं, वे चिन्ता के विषय हैं।

संयम धारण करने वाला व्यक्ति विचार करता है कि—मैं प्रभुमय जीवन व्यतीत करूँगा। परन्तु शास्त्रों और ग्रन्थों का अध्ययन करके जब कुशल बन जाय और चित्त में और ही प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाय तब उसे क्या कहना चाहिए?

मान लीजिए, किसी किसान ने एक बंध बाँधा। उस समय उसकी

भावना थी कि मैं इस पानी से खेत को सींच कर अच्छी फसल उत्पन्न करूँगा। वह चाहे, तो वास्तव में ऐसा कर भी सकता है। मगर वह मूर्ख किसान उस पानी से आक एवं धतूरे के समान वृक्षों को सींचता है और आम जैसे वृक्षों को नहीं सींचता। क्या आप उसके कार्य की सराहना करेंगे? जल का स्वभाव है कि उससे जिस किसी वृक्ष या पौधे को सींचा जाएगा, उसे पोषण मिलेगा? परन्तु जिस जल के द्वारा सुन्दर खेती पैदा की जा सकती है, उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग करना क्या उचित है?

इसी प्रकार अपना और जगत् का कल्याण करना संयम लेने का उद्देश्य था। संयम ग्रहण करने के पश्चात् ही इस उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है। ज्ञान का उपयोग भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होना चाहिए। किन्तु कई लोग उस मूर्ख किसान भी भाँति अपने ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। इसी हेतु से अनाथी मुनि हमें और आपको सावधान कर रहे हैं। गृहस्थ सांसारिक वस्तुओं के लोभी होते हैं और चमत्कार देखना चाहते हैं, परन्तु कितनेक साधु भी अपने ध्येय को भूल कर दूसरी ओर मुड़ जाते हैं। ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में अनाथी मुनि कहते हैं कि अपने ध्येय को भूल कर दूसरी ओर चले जाने वाले साधु किस प्रकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं।

किसी का हाथ देखकर कहना—तू बहुत भाग्यशाली है। देख, मैं तेरे पूर्वभव और आगामी भव का वृत्तान्त बतलाता हूँ। इस प्रकार कह कर किसी का भूत-भावी वृत्तान्त कह सुनाना, किसी के कान नाक आदि देखकर फल कहना, किसी को पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रणी आदि स्त्रियों के भेद बतलाना और किसी को निमित्त बतलाना, यों करेगा तो ऐसा फल मिलेगा

आदि कहना तथा लक्षण-ज्योतिष आदि बतलाना, यह सब उन्मार्ग गमन के लक्षण हैं और, अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना है। गृहस्थ तो यही चाहते हैं। इसी कारण वे इस प्रकार के उलटे कार्य करने वाले साधुओं को प्रोत्साहन देते हैं। किन्तु साधुओं को तो अपने पद की मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। उन्हें जहरीले वृक्षों का पोषण करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि अगर किसी साधु को निमित्त या लक्षण का ज्ञान हो तो उसका उपयोग क्या है? वह अपने ज्ञान से किसी को लाभ न पहुँचा सके तो उनका वह ज्ञान किस काम का? इसके अतिरिक्त निमित्त या लक्षण बतलाने में हानि भी क्या है? बल्कि धर्मोपदेश से दूसरों को जैन बनाना कठिन है, पर इस प्रकार का चमत्कार बतलाकर बहुतों को जैन बनाया जा सकता है। इस प्रकार जैनधर्म के उद्योत के लिए यदि साधु निमित्त-लक्षण-ज्ञान का प्रयोग करे तो क्या हानि है? फिर जिस प्रकार पानी का उपयोग खेती में किया जाता है, उसी प्रकार लक्षणशास्त्र का उपयोग लक्षण बतलाने में करना क्या बुरा है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लक्षण ज्ञान आदि का ऐसा उपयोग करने से साधुओं को बहुत हानि होती है। जो सच्चा लक्षणज्ञानी होगा, वह सर्व प्रथम अपने लक्षण देखेगा और सोचेगा कि मुझमें जिन कामों को करने का लक्षण नहीं है, मैं उनमें न पड़ूँ और जिन कामों के लक्षण हैं उनके लिए यदि भगवान् की आज्ञा हो तो करूँ, अन्यथा नहीं। इस प्रकार सर्वप्रथम अपने ही लक्षण देखने चाहिए। अथवा कोई वैरागी हो तो उसके लक्षण देख लेने चाहिए कि यह धर्म को प्राप्त करके पाल सकेगा

या नहीं ? लक्षण देखने से प्रतीत हो कि यह पाल सकेगा तो ही उसे दीक्षित करना चाहिए।

लक्षणशास्त्र का ज्ञाता आयु के विषय में भी बहुत कुछ जान सकता है। अगर अवसर आ गया हो और कोई उसे संथारा कराने के लिए कहे तो आयु स्वल्प शेष रही जान कर संथारा कराया जा सकता है। अथवा यह कह सकता है कि इसकी आयु अभी शेप है, अतएव यह दृढ नहीं रह सकेगा। अभी इसे सथारा न कराना ही ठीक है।

इस प्रकार विवेक रखने में भी लक्षणशास्त्र का उपयोग किया जा सकता है। ऐसा न करके यह बतलाना कि—'तुझे स्त्री या पुत्र की प्राप्ति होगी,' यह जिस संसार को खराब समझकर त्यागा है और संयम धारण किया है, उसी संसार में फिर से फँस जाना है।

कोई साधु लक्षण-निमित्त द्वारा चमत्कार बतलावे और कहे कि इस चमत्कार द्वारा जिस धन की प्राप्ति होगी, इसे मैं संघ-हित में ही काम में लूँगा, तो उसके विषय में आप क्या कहेंगे ? यही कहोगे कि ऐसा है तो सट्टा, नीलाम और जुआ आदि खेलने में क्या हर्ज है ? तब तो बस यही कहना चाहिए कि आज चौका का दाव लगेगा, रुपया लगा दो और जो रुपया आवे उसे संघ के हित के लिए खर्च, कर देना। क्या ऐसा करना योग्य होगा ?

स्त्री पुरुष के संबंध में भी यही बहाना किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि हम इनके लक्षण बतलाते हैं। इनका जोड़ा मिल जाएगा तो श्रावक-श्राविका बन कर धर्म का उद्योत करेंगे। इस प्रकार तो सभी में लाभ बतलाया जा सकता है।

ऐसे-ऐसे प्रलोभनों से ही यति समाज का अधःपतन हुआ है। अन्यथा वह समाज भी पंच महाव्रतधारी था। पहले संघहित का नाम लिया गया। वह कुछ अच्छा लगा। पर अन्त में ऐसा दुष्परिणाम आया कि जो किसी समय महाव्रतधारी थे, वही आज संसारी बन गए। पहले वस्त्र को रक्त से लथपथ कर देना और फिर धोना ठीक नहीं, संघहित के नाम पर भी कोई अनुचित काम करना योग्य नहीं है। पहले तो संघहित का नाम लेकर धन संचित किया जायगा, परन्तु अन्त में इस पद्धति का बड़ा ही भीषण परिणाम आएगा। यह बात हमें बराबर ध्यान में रखनी चाहिए।

अगर यह कार्य हितकर होता तो शास्त्र में इसका निषेध न किया गया होता। गौतम स्वामी महान् लब्धिधारी थे। वह अपनी लब्धियों का प्रयोग करते तो एक ही दिन में सारे संसार को जैनधर्मानुयायी बना सकते थे। उनमें एक लब्धि ऐसी थी कि थोड़ी-सी खीर में अपना अंगूठा रख लें तो चक्रवर्ती की सारी सेना भरपेट खीर खा ले, फिर भी वह उतनी की उतनी ही रहे। इस प्रकार की शक्ति होने पर भी उन्होंने कभी उसका उपयोग नहीं किया, किन्तु अपनी गोचरी के लिए भी वह स्वयं ही जाते थे, क्या उन्हें संघहित का विचार नहीं आता था? इससे स्पष्ट है कि संघहित के नाम पर संघ की मर्यादाओं को भंग करना और लक्षणज्ञान आदि उपयोग करना अनुचित है।

अभिप्राय यह है कि लक्षण बतलाना, कौतुक बतलाना अथवा धन एवं पुत्र की प्राप्ति के उपाय बतलाना साधुता से पतित होने के समान है। शास्त्रकार ऐसी विद्या को कुत्सित विद्या कहते हैं। इन कुत्सित विद्याओं द्वारा अपनी आजीविका चलाने वालों को शास्त्रकार ने आस्रवद्वार द्वारा

आजीविका-निर्वाह करने वाला कहा है । ऐसी विद्याएँ अन्त समय में शरणदात्री नहीं बनतीं, वरन् स यममार्ग का नाश करने वाली साबित होती हैं । अतएव समझना चाहिए कि ऐसी विद्याओं द्वारा आजीविका चलाना अनाथ बनना है ।

कुत्सित विद्याओं से बचने के लिए पहले यह जान लेना चाहिए कि नाथ कौन है ? और लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कुतूहल आदि का ज्ञाता और उसका उपयोग करने वाला सनाथ है या अनाथ ? यह विद्याएँ सनाथ बनाती हैं या अनाथ ?

आत्मा को सनाथ बनाने का अर्थ है—इस प्रकार स्वतंत्र बनाना कि उसमें किसी भी प्रकार की परवशता—गुलामी—न रह जाय । ऐसी विद्याओं से नाथ बनना शक्य होता तो देवता तो इनमें परिपूर्ण होते हैं । वे वैक्रिय लब्धि से जो चाहें, कर सकते हैं । फिर भी वे उनकी बदौलत सनाथ नहीं, अनाथ बनते हैं ।

नाथ किस प्रकार बनना होता है, यह बात अनाथ मुनि पहले ही बतला चुके है । उन्होंने कहा है कि मत्र और विद्या के ज्ञाता लोगों ने मुझे स्वस्थ करने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे, परन्तु मेरा रोग दूर नहीं हुआ । यह विद्याएँ सनाथ बनाने वाली होतीं तो इनके प्रयोग से मेरा रोग क्यों न चला गया होता ?

कहा जा सकता है—अनाथ मुनि का रोग न मिटा तो क्या हो गया ? मंत्र आदि के प्रयोग से रोग मिटता तो है ही । परन्तु कदाचित् मत्रविद्या आदि से रोग चला भी जाय तो उसके बाद यही विचार आता है कि जो भी शक्ति है इन्हीं में है ; अतएव यही मेरे लिए वन्दनीय और पूजनीय

हैं। यह तो एक साधारण नियम है कि जिस भावना से रोग दूर होता है, उसके प्रति गुलामी आ जाती है। इसी कारण अनाथ मुनि कहते हैं कि— बड़ा अच्छा हुआ कि मंत्र-विद्या से मेरा रोग न मिटा और संयम की भावना से मिटा। और यह भी बहुत अच्छा हुआ कि संयम कि भावना करने से मैं सनाथ अनाथ का भेद भी समझ गया।

अब आप यह विचार कीजिए कि आप सनाथ बनने के लिए साधु की संगति करते हैं या अनाथ बनने के लिए? साधु की संगति सनाथ बनने के लिए ही की जाती है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि—लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कुतूहल आदि का प्रयोग करने वाले को निर्ग्रन्थ समझ कर यदि उसका शरण ग्रहण करोगे तो अनाथ ही रहोगे। लोग लक्षण आदि द्वारा रोग मिटाना चाहते हैं, परन्तु उन्हें विचार करना चाहिए कि रोगों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? रोग अनाथता से ही उत्पन्न होते हैं। मन्त्रविद्या आदि से अनेक बार रोग मिटाये गये, पर अनाथता नहीं मिटी और रोग भी नहीं मिटे। अतएव अनाथता में से निकल कर सनाथ बनने की भावना करो। अनाथ से सनाथ बनोगे तो रोग भी सदा के लिए चले जाएँगे। कदाचित् अनाथ मुनि की भाँति एकदम सनाथ न बन सको तो भी भावना तो सनाथ बनने की ही रक्खो। सनाथ बनने की भावना होगी तो किसी समय सनाथ भी बन सकोगे।

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।

मन्त्र तंत्र आदि की सहायता लेने का त्याग करने में असमर्थ हो तो भी भावना तो उनके त्याग की ही रक्खो। कदाचित् तुम कहोगे कि इस भव में तो हम से मंत्र तंत्र आदि की सहायता का त्याग नहीं हो सकता, किन्तु

जो साधु बना है, वह नहीं कह सकता कि इस भव मे तो साधुपन पालूँगा नहीं, अगले भव में देखा जायगा। अगर साधु होकर भी कोई ऐसा कहता है और लक्षण, स्वप्न, निमित्त आदि बताने के फंदे में पड़ता है, उसे विचार करना चाहिए कि उसका मन शास्त्र को प्रमाण भूत मानता है या लक्षण आदि को ?

कहा जा सकता है कि साधुओं में भी धर्म कहाँ है ? धर्म होता तो उन्हें रोग ही क्यों होते ? परन्तु सच्चा महात्मा तो शरीर में रोग रहने ही देना चाहता है। वह रोग को दूर नहीं करना चाहता।

सनत्कुमार चक्रवर्ती के शरीर में जब रोग उत्पन्न हुए थे, तब उन्होंने रोगों को मिटाने का उपाय न करके संयम धारण किया था। वह चाहते तो छह खण्ड के स्वामी होने के कारण अनेक उपाय कर सकते थे। पर उन्होंने रोग मिटाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने उलटा यह कहा कि रोग तो मेरे मित्र हैं जो मुझे जाग्रत करने के लिए आये हैं। सयम धारण करने के पश्चात् देवों ने उनके पास आकर कहा—आपके शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये हैं। आप हमारी औषध लें तो सब रोग दूर हो जाएँगे। इस कथन के उत्तर में सनत्कुमार ऋषि ने कहा—मुझे दो प्रकार के रोग हैं। एक तो आत्मा का है और दूसरा शारीरिक रोग हुआ है। आत्मा को कर्मों का रोग लगा है। तुम इनमें से किसी रोग को मिटा सकते हो ? कर्म के रोग को मिटा कर आत्मा को नीरोग बनाना चाहते हो या शरीर के ही रोग को मिटाना चाहते हो ?

देव—कर्म का रोग मिटाना मेरे सामर्थ्य से बाहर है। मै तो शरीर के रोग को मिटाना चाहता हूँ।

ऋषि—इसमें क्या रक्खा है। शरीर के रोग को तो मैंने ही टिका रक्खा है और इसी कारण वह बना है ऐसा न होता तो वह टिक ही नहीं सकता था।

ऐसा कह कर उन्होंने अपनी एक उंगली शरीर के उस भाग को लगाई, जहाँ रोग था। उंगली का स्पर्श होते ही वह भाग कंचन वर्णी हो गया। तब ऋषि बोले—शरीर का रोग तो इस तरह दूर किया जा सकता है। परन्तु यह रोग तो मेरा मित्र है, क्योंकि इसने ही मुझे जाग्रत किया है। अतएव मैं अपने इस रोग-मित्र को दूर नहीं करना चाहता। मैं इसी मित्र की सहायता से कर्म रूप आन्तरिक रोग को नष्ट करना चाहता हूँ।

इस प्रकार सच्चे महात्मा रोग को मित्र मानते हैं। इस कथन का अर्थ यह न समझिए कि स्थविरकल्पी साधु दवा का उपयोग ही नहीं करते। वे दवा तो लेते हैं, मगर दवा से अपने आपको सनाथ हुआ नहीं मानते।

संसार के लोगों। तुम चमत्कार देखना चाहते हो तो मंत्र-तंत्र का चमत्कार क्या देखते हो, भावना का चमत्कार देखो। मंत्र तंत्र की अपेक्षा भावना में अनन्त गुणा चमत्कार है। पर तुम उस पर विश्वास नहीं करते। तुम स्वदेश और स्वविचार को भूल कर दूसरों पर ही विश्वास करते हो। वे अपनी भावना की ओर दृष्टिपात नहीं करते। वे सोचते हैं—डाक्टर के बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता।

एक शिक्षक ने मुझे जो वृत्तान्त सुनाया, उससे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने बतलाया—मेरे शरीर में माथे की बराबर फोड़ा हुआ था। मेरा शरीर शक्कर की बीमारी से ग्रस्त था। सारा शरीर सूज गया था। मर जाने का भय लगा तो ऑपरेशन कराने का निश्चय किया। परन्तु मेरी पत्नी को न जाने क्यों, धुन सवार हुई कि ऑपरेशन न कराया जाय। उसने हठ पकड़

लिया। लोग कहने लगे - ऑपरेशन कराये बिना यह बचेगा कैसे? इसी बीच आबू के एक साधु अनायास ही मेरे घर आ पहुंचे। उन्होंने मेरा रोग देखकर चावल से भी छोटी एक टिकड़ी नागरवेल के पत्ते में देकर कहा — ऑपरेशन न कराना और यह टिकड़ी प्रतिदिन एक-एक खाना। तुझे शक्कर की बीमारी है, अतः शक्कर न खाना। हाँ, घी-गुड़ के बने लड्डू जितने खाये जा सकें खाना और सातवें दिन पेशाब की परीक्षा कराना।

इतना कह कर साधु चले गये। मैंने उनके कथनानुसार दवा लेना आरम्भ किया। शक्कर की बीमारी में गुड़ जहर का काम करता है। डाक्टरों ने गुड़ खाने की मनाई भी की; पर मैंने उनकी बात नहीं मानी। साधु के वचन पर विश्वास करके घी-गुड खाना चालू रक्खा। सातवें दिन तीन डाक्टरों ने मेरे पेशाब की परीक्षा की। उसमें शक्कर का लेश मात्र भी उन्हें मालूम न पड़ा।

कह सकते हो कि ऐसी दवा देने वाले मिलते कहाँ हैं? किन्तु विश्वास और भावना रक्खो तो न जाने कब, कौन, कहाँ से आकर मिल जायगा। श्रद्धा की शक्ति बहुत प्रचण्ड है। अपनी भावना से काम करोगे तो अपनी भावना पर विश्वास होगा और दूसरे के सहारे काम करोगे तो दूसरे के गुलाम बनोगे। ऐसी स्थिति में तुम डॉक्टर पर विश्वास रखते हो तो अपनी ही भावना पर क्यों विश्वास नहीं करते? सनत्कुमार ऋषि ने बहुत दिनों तक शरीर में रोग रहने दिये, मगर वे अपनी भावना पर ही दृढ़ रहे तो कर्मों को नष्ट करके मुक्त हो गये।

अतएव मंत्र, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याओं का भरोसा मत करो। अन्त में, ये विद्याएँ शरण-दात्री नहीं होती। इसका प्रयोग करने वाले लोग थोड़ी

देर के लिए सांसारिक मान प्रतिष्ठा चाहे प्राप्त कर लें, संसार के लोभी लोगों को ठग कर आजीविका भले कर लें, लेकिन मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। संसार में इस उपाय से जमाया हुआ क्षणिक प्रभाव, मोक्ष-मार्ग का बाधक है। ऐसे लोग, अनाथ के अनाथ ही हैं।

जैन शास्त्रों में तो साधुओं के लिए स्वप्न लक्षण आदि का फल बताना मना ही है लेकिन अन्य ग्रन्थकार भी निषेध ही करते हैं। संन्यासाश्रम की विधि बताते हुए मनुस्मृति में कहा है—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेन् कर्हिचित्॥

अध्याय ६ ठा

अर्थात्—(सन्यासी) भूकंप आदि उत्पात, निमित्त, नक्षत्रविद्या (ज्योतिष) और अंग-विद्या (सामुद्रिक) बतलाकर, तथा धर्म एवं नीति का उपदेश देकर बदले में कदापि भिक्षा प्राप्त न करे।

संयम लेकर, फिर अहिंसादि पञ्च महाव्रत की विराधना करने, पंच समिति का पालन न करने और स्वप्न लक्षण आदि का फल बताने से, क्या हानि होती है, यह बताने के लिए सनाथी मुनि कहते हैं—

तमं तमेणेव उ से असीले
सया दुही विप्परिया मवेति।
संधावई नरग तिरिक्ख जोणी
मोणं विराहेत्तु असाहु रूवे ॥४६॥

अर्थ—संयम की विराधना करने वाला साधुलिंगधारी दुखी होता हुआ विपर्यास को प्राप्त होता है, यानी उल्टा समझता तथा करता है। इस

कारण वह असाधु संयम स्वीकार करने पर भी नरक तिर्यंच गति के कार्य करता है और नरक तिर्यंच गति में भ्रमण करता रहता है।

राजा, जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसे भूल जाना और उसके विपरीत कार्य करना, दुःख का कारण है। सयम के विराधक लोग, ससार में चाहे सुखी भी देखे जाते हों, लेकिन संसार में दिखनेवाले सुख के पीछे, बहुत दुःख छिपा हुआ है। सासारिक सुख ही तो जन्म मरण का कारण है। साधुपने में, सासारिक सुख, यश, वैभव, कीर्त्ति आदि की चाह करना, उनकी प्राप्ति के उपाय करना, साधुपने के लक्षण नहीं हैं। साधुपने में तो इन सब का बलिदान करना होता है। साधुपना लेकर, उत्तम ज्ञान, दर्शन और चरित्र की अराधना करनी चाहिए। जो लोग, साधु होकर भी सासारिक सुखों की अभिलाषा करते हैं, वे अपनी गाठ मे बँधे हुए चिंतामणि रत्न को देकर बदले में पत्थर ले रहे हैं। जो मनुष्य सयम रूपी चितामणि रत्न खोकर, बदले में सासारिक सुख, यश, कीर्ति आदि रूपी पत्थर लेता है, वह सुखी कैसे हो सकता है? वह तो सदा ही दुःखी रहता है और मरने पर नरक या तिर्यंच गति में जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है, कि साधुपना लेकर असयमी में पड़नेवाला, आखिर साधुपने का—अपने वेष का—कुछ भी तो ध्यान रखता ही होगा। वह जो भी सासारिक सुख भोगता होगा, वह गृहस्थ की अपेक्षा थोड़े और गृहस्थ के दिये हुए या उनके जूठे। ऐसा होते हुए भी, उस द्रव्यलिंगी साधु को नरक तिर्यंच की गति प्राप्त होती है, तो फिर गृहस्थों का तो कभी कल्याण ही नहीं हो सकता! गृहस्थों को तो इससे भी भारी दण्ड भोगना पड़ता होगा! यदि गृहस्थों को इससे भारी दण्ड नहीं भोगना पड़ता है, तो फिर

द्रव्यलिंगी साधु को, थोड़े से सांसारिक सुख भोगने के कारण ऐसा कठिन दण्ड क्यों प्राप्त होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि गृहस्थ जो सांसारिक भोग भोगता है, वह अपनी की हुई किसी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर नहीं, किन्तु प्रतिज्ञा पर स्थिर रहकर। वह, सांसारिक भोगों के लिए, छल कपट नहीं करता। यह नहीं करता, कि सांसारिक भोग भी भोगे और साधु-वेश पहनकर, अपने आपको पंच महाव्रतधारी भी प्रसिद्ध करे। वह जो कुछ भी करता है, चुरा छिपा कर नहीं करता है। लेकिन द्रव्यलिंगी साधु, अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर सांसारिक विषय-भोग भोगता है। वह, गृहस्थों की तरह गृहस्थ-वेश में सांसारिक सुख नहीं भोगता, किन्तु उस वेश में भोगता है, जो सांसारिक-भोग त्यागने वालों का है। गृहस्थों के पास, सांसारिक भोगों के साधन भी रहते हैं, इसलिये उन्हें छल कपट नहीं करना पड़ता, लेकिन संयम में प्रव्रजित होने वाला, ऐसे साधनों को, संयम में प्रव्रजित होने के समय ही त्याग चुकता है। इसलिए उसे, सांसारिक भोग के साधन जुटाने में, छल कपट से काम लेना होता है। उदाहरण के लिए, गृहस्थ के पास स्त्री है, लेकिन द्रव्यलिंगी, स्त्री आदि त्याग कर ही संयम में प्रव्रजित हुआ था, इसलिए उसके पास स्त्री नहीं है। अब यदि वह स्त्री भोग भोगेगा, तो पर-स्त्री के साथ ही और पर स्त्री प्राप्त करने में उसे न मालूम कैसे कैसे छल कपट का आश्रय लेना होगा। यही बात धन वैभव आदि के लिए भी है। तात्पर्य यह, कि द्रव्यलिंगी एक तो त्यागियों के वेश में सांसारिक सुख भोगता है। दूसरे, प्रतिज्ञा के विपरीत कार्य करता है। तीसरे, सांसारिक भोग प्राप्त करने में, छल कपट से काम लेता है। और चौथे, गृहस्थों की अपेक्षा

उसकी लालसा बढ़ी हुई होती है। इन्हीं कारणों से, वह, ऐसे कठिन दण्ड का पात्र है। शास्त्र मे कहा है—

माई मिच्छा दिट्ठी अमाई समदिट्ठी।

अर्थात्—माया, छल-कपट करने वाला मिथ्यादृष्टि है और माया नहीं करने वाला समदृष्टि है।

साधु वेश मे रहकर, जो सासारिक भोग भोगता है, वह, छल-कपट करने वाले मिथ्यादृष्टि के समान है। इसलिए उसे, सनाथी मुनि के कथनानुसार कठिन दण्ड प्राप्त होता है। गृहस्थों मे भी, जो छल कपट करने वाला है, जो प्रतिज्ञा भ्रष्ट है, एव व्रत-नियम का पालन नहीं करता है, वह भी ऐसे ही कठिन दण्ड का पात्र है।

बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं, जो व्रत-नियम के विरुद्ध कार्य करके, उस विरुद्ध कार्य को, व्रत-नियम के अन्तर्गत ही बतलाते हैं, या अपवाद-मार्ग के कार्य की प्ररूपणा, उत्सर्ग मार्ग में करते हैं। ऐसे उत्सूत्र प्ररूपक भी उसी दण्ड के पात्र हैं, जो सनाथी मुनि ने ऊपर बताया है।

अनाथ मुनि कहते हैं—आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दन वन और कामधेनु के समान है। इस कथन पर गहरा विचार करके ऐसी भावना करनी चाहिए कि—'आत्मन्! तुझे वैतरणी नदी मिले तो कैसा कष्ट हो? तुझे कूटशाल्मली वृक्ष के नीचे बैठा दिया जाय और ऊपर से तलवार की धार के समान तीखी धारवाले पत्ते गिराये जाएँ तो तेरी क्या दशा हो?'

अगर आत्मा को इस प्रकार की वेदनाओं का ध्यान बना रहे तो क्या उसमें कोई विकार रह सकता है? एक उदाहरण लीजिए:—

अध्यात्मिक विचार वाला एक राजा ध्यान में मग्न होकर बैठा था। उसी समय एक बहुरूपिया उसके सामने आया और उसे हँसाने का प्रयत्न करने लगा। मगर राजा हँसा नहीं वह पहले की ही भांति गंभीर होकर बैठा रहा।

जब राजा का ध्यान पूर्ण हुआ तो बहुरूपिया ने राजा से कहा—बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं आपको हँसा नहीं सका इसका क्या कारण है ?

राजा ने विचार किया—मैं क्यों नहीं हँसा, यह बात इसे अनुभव करा कर समझानी चाहिए। अनुभव किये बिना यह ठीक तरह समझ नहीं सकेगा।

इस प्रकार विचार कर राजा ने, एक कुए पर टूटी-सी कुर्सी रखवाई। कुर्सी इतनी जीर्ण थी कि देखते ही ऐसी जान पड़ती थी कि अभी अभी टूट जायगी। उस कुर्सी के ऊपर पतले धागे से एक नंगी तलवार लटकाई गई। इसके बाद बहुरूपिया को उस कुर्सी पर बैठने का आदेश दिया गया और हँसाने वालों से कहा गया—इस बहुरूपिया को हँसाने का भरसक प्रयत्न करो। उन लोगों ने बहुरूपिया को हँसाने के सभी सम्भव प्रयत्न किये, परन्तु वह हँसा नहीं। तब राजा ने उसे अपने पास बुला कर पूछा—इतना अधिक प्रयत्न करने पर भी तुम हँसे क्यों नहीं ? बहुरूपिया बोला—मैं हँसता कैसे ? मेरे सिर पर तलवार लटक रही थी और भय था कि वह गिरने ही वाली है। दूसरी ओर यह डर लग रहा था कि अभी कुए में गिरा। ऐसी विषम परिस्थिति में हँसी आती तो कैसे आती ?

तब राजा ने कहा—तो इसी प्रकार ध्यान में मैं विचार कर रहा था कि यह आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है।

ऐसी स्थिति में मुझे भी कैसे हँसी आती ?

इस प्रकार विचार करने से किसी किसी का मोह उड़ जाता है और ससार से भय उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर ससार के पदार्थ ललचा नहीं सकते। हसी आने की तो बात ही दूर।

अभिप्राय यह है कि अनाथी मुनि के कथन पर गहरा विचार किया जाय तो संसार के पदार्थ बन्धन-कर्त्ता नहीं हो सकते और आत्मा मोह में नहीं पड़ सकता। अगर सासारिक पदार्थों के प्रति मोह किया जाय तो आत्मा वैतरणी नदी या कूटशाल्मली वृक्ष रूपी कुए में और तलवार गिर पड़ने की स्थिति में पड़ जाता है। यद्यपि यह विचार प्रत्येक विवेकशील को करना चाहिए; किन्तु जो साधु होकर भी विशेष विचार नहीं करता, उसके विषय में तो यही समझना चाहिए कि वह अन्धकार में से निकल कर अन्धकार में जा रहा है। उपनिषद् में कहा है:—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

अर्थात्—अविद्या की उपासना करने वाले अंधे तम में प्रवेश करते हैं।

वस्तुतः अविद्या ही अन्धकार है। साधारणतया अविद्या का वर्णन बहुत विस्तृत है। संक्षेप में जैनशास्त्र जिसे 'मोहजनित दशा' कहते हैं वह अविद्या है। नित्य में अनित्य, अनित्य में नित्य, आत्मा में अनात्मा, अनात्मा में आत्मा समझना -अभ्यास करना ही अविद्या है। शास्त्र में कहा है;—:

जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना।

अर्थात्—जीव को अजीव मान बैठना और अजीव को जीव समझ लेना ही मिथ्यात्व है। यही मिथ्यात्व अविद्या या मोह कहलाता है।

अविनाशी को नाशवान् और नाशवान् को अविनाशी मानना अविद्या है। इस प्रकार की अविद्या वाला अन्धकार में ही है। यद्यपि यह अविद्या है, परन्तु जो प्रकृति को नहीं मानता या संसार को नहीं मानता और केवल विद्या की ही बात करता है, वह और भी अधिक अधकार में है। अर्थात् जो चेतन को ही मानता है, जड़ को नहीं मानता, विद्या को ही मानता है, अविद्या को नहीं मानता वह अन्धकार मे है। जो विद्या और अविद्या को यथास्थान मानकर अविद्या का त्याग करता है, वही वास्तव में आत्मतत्त्व को जान सकता है।

अतएव मनुष्य को जड़--चेतन का विवेक करके ऐसा मानना चाहिए कि—हे आत्मन्! इस संसार में दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है। तू ही अपने आपको दुःख देने वाला है।

जो इस प्रकार विचार करेगा, उसका चित्त क्या ससार में अनुरक्त होगा? नहीं। जो इस प्रकार की सवेदना का ध्यान रखता है, उसका चित्त संसार में जायगा ही नहीं। उसका मन तो अमृत-भावना में ही अवगाहन करेगा। जो महात्मा इस तथ्य को भली-भाति समझते हैं, वे स सार की वस्तुओं में लुब्ध नहीं होते। वे उनसे विरक्त रहते हैं। वे किसी की निंदा में भी नहीं पड़ते, वरन् राग द्वेष का त्याग करके आत्मा का कल्याण-साधन करते हैं।

जब किसी मनुष्य को चाबुक मारे जाते हैं तो एक चाबुक मारने के बाद दूसरा चाबुक मारने जाते थोडे समय का व्यवधान पड़ ही जाता है। पर किसी को बिजली ही पकड़ा दी जाय तो क्या उसमें थोडे समय का भी व्यवधान पडेगा? नहीं। बिजली तो अन्तिम श्वास तक निरन्तर ही दुःख देती रहेगी। इसी प्रकार अज्ञान भी सदैव दुःख देने वाला है।

हमेशा का दुःख कैसा होता है ? इसकी व्याख्या करते हुए ज्ञानी जन कहते हैं—संसार के लोग जिसे सुख मानते हैं, उसे हम दुःख ही मानते हैं। बीमार आदमी कुपथ्य पदार्थ खाने मे आनन्द मानता है, पर ज्ञानी तो उससे यही कहेगा कि तू यह क्या कर रहा है ? अरे, यह तो और भी अधिक हानिकारक है। इस प्रकार बीमार जिसमें सुख मानता है, डाक्टर उसी को दुःख रूप बतलाता है। आप इन दोनों में से किसका कहा मानेंगे ? यही कहोगे कि डाक्टर का कहना ही ठीक है। इसी प्रकार सांसारिक जन अज्ञान के कारण जिसमें सुख मानते है, ज्ञानी जन उसको ही दुःख रूप मानते हैं।

दुख ने सुख करि मानियो, भमियो काल अनन्त।
लख चौरासी योनि में, भाख्यो श्री भगवन्त।
मुक्ति को मारग दोयलो।

अज्ञानग्रस्त आत्मा सुख को दुःख और दुःख को सुख मान रहा है। इसी कारण उसे भगवान् का मार्ग कठिनाइयों से परिपूर्ण प्रतीत होता है। आत्मा में यही अपूर्णता है। यह भ्रम - विपर्यास दूर हो जाय तो भगवान् का मार्ग सरल बन सकता है।

एक मित्र ने दूसरे मित्र से कहा—संसार उलटे रास्ते चल रहा है। वह दुःख को सुख मान रहा है।

दूसरा मित्र बोला—तुम भूल रहे हो। कोई दुःख को सुख मान नहीं सकता।

पहला मित्र—मैं ठीक कहता हूँ। नैतिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार के जीवन में यही हो रहा है।

दूसरा मित्र—पर यह कैसे संभव हो सकता है ?

पहला—क्या आप ऐसे लोगों को नहीं देखते जो कहते हैं कि कल कुछ भी हो, आज तो मौज उड़ाएँगे ही। गाजा-भग और शराब पीकर आनन्द करेंगे ? जो लोग गाजा, भग या शराब का सेवन करते हैं, क्या वे उसमें दुःख मान कर सेवन करते हैं ? वे उसके सेवन में सुख समझते हैं, पर वास्तव में वह सुख है या दुःख ? वेश्यागमन, चोरी आदि सुख मानकर किये जाते हैं या दुःख मान कर ? दुःख मानने वाला इनका आचरण कैसे करेगा ? यद्यपि लोग इन कार्यों में सुख समझते हैं, परन्तु वास्तव में तो उनमें दुःख ही है!

इस प्रकार संसार में जितने भी दुष्कर्म हैं, सब सुख मान कर ही किये जाते हैं। सारा ससार दुःख को सुख समझने की भ्रान्ति में पड़ा है। लोग अपने लड़कों को सुधारने के लिए कालेज में भेजते हैं, परन्तु वहाँ भेजने पर किस प्रकार कुलपरम्परा और धर्म का विनाश होता है, यह कौन समझता है। फिर भी लोग अपने लड़कों को इसी उद्देश्य से भेजते हैं कि लड़का पढ़-लिख कर सुखी हो जायगा। परन्तु सुना जाता है कि कालेज-जीवन में भी बड़ी अनैतिकता फैली हुई है। जब तक नैतिक जीवन में परिवर्तन न हो तब तक आध्यात्मिक जीवन ऊँचा नहीं उठ सकता। जिस गृहस्थ का जीवन नैतिक दृष्टि से ऊँचा होगा, साधु बन कर भी वह उच्च और प्रशस्त चारित्र का पालन करेगा।

मुनि कहते हैं—साधु बनते समय बनने वाले की भावना प्रायः यह नहीं होती कि हम पेट भरने के लिए साधु बनते हैं। उस समय तो वह यही सोचता है—पेट तो कौवा और कुत्ता भी भर लेता है। हम केवल

पेट भरने के लिए साधु नहीं बने हैं, वरन् स्व-पर कार्यों को सिद्ध करने के लिए साधु बने हैं।

इस प्रकार संयम ग्रहण करते समय ऐसी उच्च भावना होती है, परन्तु बाद में कई लोग उस उच्च भावना को भूल जाते हैं और संयम से पतित हो जाते हैं।

उद्देसियं कीयगडं नियागं,
न मुंचइ किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवासव्वभक्खी भवित्ता,
इत्तो चुए गच्छइ कट्टु पावं ॥४७॥

अर्थ—संयम ग्रहण करके भी जो अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाता है, और औद्देशिक—अपने निमित्त बने, क्रीतकृत—साधु के लिए खरीद कर बनाये हुए, तथा नियागपिण्ड को ग्रहण करता है, इस प्रकार न लेने योग्य आहार-पानी को भी नहीं छोड़ता है, वह इस भव से च्युत होकर पाप करके दुर्गति का पात्र बनता है।

व्याख्यानः—संयम धारण कर लेने के पश्चात् आने वाली अनाथता के कारण बतलाते हुए अनाथ मुनि कहते हैं कि पाँच महाव्रतों का पालन न करने, पाँच समितियों का पालन न करने, स्वप्न-लक्षण आदि का फल बतलाने, कुतूहल-इन्द्रजाल आदि तमाशा दिखलाने के सिवाय अनाथता का एक कारण भोजन संबंधी मर्यादा का उल्लंघन करना भी है। वे कहते हैं—राजन्! साधुत्व की मर्यादा की अवहेलना करने वाले बहुत से साधु वेषधारी लोग अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाते हैं। जैसे अग्नि अपने में पड़ी हुई

सब वस्तुओं को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार वे द्रव्यलिंगी साधु भी ज कुछ और जैसा कुछ मिलता है, उसे गटक जाते हैं। वे भक्ष्य-अभक्ष्य या सदोष-निर्दोष आहार का विचार नहीं करते। यद्यपि साधु का कर्त्तव्य है कि वह एषणासमिति का सम्यक् प्रकार से पालन करे, परन्तु वह अपने इस कर्त्तव्य का तनिक भी ध्यान नहीं रखता। वह दूषित आहार भी ले लेता है।

राजा, कुशीललिङ्गी, स्वाद या शरीर को पुष्ट करने के लिए, अग्नि की तरह सर्वभक्षी बनकर, एषणासमिति को भुला तो देता है, जिस तरह अग्नि अपने में पड़े हुए दुर्गन्ध युक्त, गीले और अपवित्र आदि सभी पदार्थों को भस्म कर देती है, इसी प्रकार वह भी, उद्देशिक, क्रीत, नित्यपिण्ड और अप्रासुक आदि अशुद्ध आहार लेकर खा तो लेता है, लेकिन मरण निश्चय है। ससार का कोई भी जीव, मरने से नहीं बच सकता, तो क्या ऐसा करनेवाला कुशीललिंगी न मरेगा? अवश्य मरेगा और उस ऐसा करनेवाले कुशीललिंगी का आत्मा, हृष्ट पुष्ट शरीर एवं रसलोलुप जिह्वा को छोड़कर महान् दुर्गति मे जावेगा। उसने, रसलोलुप बन-कर, सयम का नाश किया है, इसलिए कटुपाप कर्म के फल को प्राप्त करेगा।

राजा, वह असाधु जब गृहस्थ था, तब इच्छानुसार भोजन बना कर या बनवा कर खा लेता। लेकिन उसने यह इच्छा की कि अब, मैं इच्छित भोजन नहीं करूँगा, किन्तु ऐसा भोजन करूँगा, जो मुझे शुद्ध-भिक्षा में मिल जावे। इस समय, मेरे भोजन के लिए, अनेक त्रस, स्थावर जीव को कष्ट होता है। मैं, अपने खाने के लिए ही, त्रस, स्थावर जीव को कष्ट देता हूं। लेकिन अब, मैं, किसी त्रस, स्थावर जीव को, अपने भोजन के लिए, कष्ट न होने दूंगा, किन्तु इस प्रकार भिक्षा करके क्षुधा मिटाऊंगा, जिस

तरह भ्रमर, बिना निश्चय किये ही फूलों का रस लेने के लिए जाता है और एक ही फूल से नहीं, किन्तु अनेक फूलों से रस लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। मैं भी भ्रमर-भिक्षा से अपना पेट भरूँगा, जिसमें मेरे भोजन के कारण, किसी भी त्रस, स्थावर जीव को कष्ट न हो। अब मैं, रसलोलुप न रहूँगा।

राजा, इस प्रकार की भावना से, वह गृह-संसार त्याग कर साधु हो गया। वह, जब संयम में प्रव्रजित नहीं हुआ था, तब जैसा चाहता था, वैसा भोजन बना कर या बनवाकर खाता था, फिर भी, उसके लिए उपालम्भ की कोई बात न थी। लेकिन, उक्त भावना से साधु हुआ और फिर भी उससे स्वादलोलुपता न छूटी, तो यह, प्रतिज्ञा के विपरीत एवं उपालम्भ का कार्य है। उस असाधु की रसलोलुपता से, अनेक त्रस, स्थावर जीव की हिंसा होती है, फिर भी, वह जैसा इच्छित भोजन गृहस्थावस्था में कर सकता था, वैसा भोजन प्राप्त नहीं कर पाता। इस कारण उसका चित्त, स्वादिष्ट भोजन के लिए सदा लालायित रहा करता है। इन्हीं कारणों से, वह दुर्गति में जाता है।

राजा, संयम का पालन करने वाले लोग अपने लिए बनाया गया, या अपने लिए खरीदा हुआ आहार नहीं लेते। क्योंकि ऐसा आहार लेने से, साधु के लिए अनेक त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार, साधु, नित्य एक ही घर से भिक्षा नहीं किया करते। एक ही घर से भिक्षा लेते रहने पर उस घर वाले को यह मालूम रहता है, कि साधु आवेंगे, इसलिए वह, साधु के वास्ते विशेष तैयारी करता है—विशेष भोजन बनवाता है—जिससे साधु के लिए, त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा होती है।

संयमी लोग, भिक्षा मे वैसा ही आहार ले सकते हैं, जो बयॉलीस दोष से रहित हो। वे उद्देशिक, क्रीत, नित्यपिड तथा आमन्त्रित होकर या पहले से सूचना देकर आहार नही लेते। लेकिन कुशीललिगी लोग, भोजन संबधी इन नियमो का पालन नहीं करते। वे, एषणिक एवं अनैषणिक दोनों ही प्रकार का आहार लेते और खाते हैं। परिणाम यह होता है, कि ऐसे लोगों को इस लोक में भी सम्मान-पूर्वक आहार नहीं मिलता—अनादर-पूर्वक आहार मिलता है, और परलोक में भी, दुर्गति मिलती है।

जैन-भिक्षु के लिए, भिक्षा सम्बन्धी जो विधि बताई गई है, बहुत अंश में वैसी ही विधि, अन्य ग्रन्थों में भी बताई गई है। जैसे—

विधूमे न्यस्तमुसले व्यगारे भुक्तवज्जने।
अतीते पात्र सपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत्।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्ष्य भिक्षितं नानुभिक्षयेत्॥

शंखस्मृति अ० ७ वां

अर्थात्—गृहस्थों के यहा जब मूसल चलना-कूटना-बन्द होगया हो, धुआँ न निकलता हो, गृह के लोग भोजन कर चुके हों और जल-पात्रादि का रखना उठाना न हो रहा हो, उस समय यति, भिक्षा के लिए जावे। यति सात घर से भिक्षा ले और जिस घर से पहले भिक्षा ले चुका है, उस घर से भिक्षा न ले।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत॥

मनुस्मृति अ० ६ ठा

अर्थात्—सन्यासी, उस घर में भिक्षा के लिए कदापि न जावे, जिस

घर में भोजन के लिए आये हुए तापस, ब्राह्मण, कुत्ते, कौए या दूसरे भिक्षुक मौजूद हों।

इस प्रकार जैन शास्त्र और इतर शास्त्र में भी त्यागियों के लिए भोजन संबंधी मर्यादाएँ बतलायी गई हैं। जैन शास्त्र में कहा है—

पिण्डं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥

—दशवैकालिक सूत्र

साधुओं को अकल्पनीय आहार, वस्त्र, पात्र आदि लेना तो दूर रहा, लेने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। दीक्षा लेते समय अकल्पनीय आहार आदि न लेने की ही भावना होती है, पर बाद में जब वह रसलोलुप बन जाता है तो छह काय की हिंसा से उसके लिए बनाया हुआ आहार लेने में भी वह संकोच नहीं करता। वह कहने लगता है कि कल्प-अकल्प की बात मत करो। कल्प-अकल्प को देखने की आवश्यकता नहीं है, केवल भाव शुद्ध होना चाहिए इस प्रकार कह कर वह कल्प की बात को ही उड़ा देने की चेष्टा करता है। परन्तु ऐसा करना शास्त्र से विरुद्ध है। सूयकृतागसूत्र के अनुसार बौद्धों में भले यह पद्धति चल सकती हो, परन्तु जैन-शास्त्र की दृष्टि से यह पद्धति कदापि मान्य नहीं हो सकती। जैन-शास्त्रों में आहार सम्बंधी कल्प-अकल्प का बहुत विस्तृत वर्णन है। फिर भी जो कल्प-अकल्प का विचार नहीं करता, उसकी दशा उस मछली के समान होती है जो पानी से सन्तोष न मान कर, अन्य वस्तुओं के प्रलोभन में पड़कर मास के साथ काटा खा जाती है और अन्त में तड़फ-तड़फ कर मरती है। मछली जब मास में लुब्ध होती है, तब उसे काटे का भान

होता नहीं । उसे भान हो जाय कि इस मास के पीछे काटा लगा है तो कदाचित् वह मास का भक्षण न करे। परन्तु वह अज्ञानवश काटे में फँसती है। किन्तु असाधु लोग तो इस प्रकार के आहार आदि में दोष जानते हुए भी खा जाते हैं। वे रस गृद्ध होकर अकल्पनीय आहार को भी नहीं छोड़ते। ऐसे अज्ञानी लोग मछली की अपेक्षा भी अधिक अज्ञानी कहे जा सकते हैं।

भगवान् ने दूषित अर्थात् अकल्पनीय वस्त्र, पात्र, आहार, मकान आदि लेने का निषेध किया है । प्रश्न होता है, यह निषेध करके क्या भगवान् ने अन्तराय डाला है? नहीं, उन्होंने साधुओं के कल्याण के लिए ही ऐसा किया है। फिर भी जो लोग कहते हैं कि – इसमें क्या रक्खा है? साधुओं को कल्प–अकल्प देखने की क्या आवश्यकता है? जिसने बनाया है, वही पाप का भागी होगा। ऐसा कहने वाले भूल करते हैं। अकल्पनीय वस्तु लेने में दोष न लगता होता तो भगवान् मनाई क्यों करते? साधुओं ने हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग किया है। अगर इस प्रकार का आहार लेने में साधुओं को दोष न लगता होता तो वे अपने हाथ से आहार क्यों न बना लेते? हाथ से भोजन बनाने में हिंसा होती है, सभी आस्तिक दर्शन एक स्वर से यह बात स्वीकार करते हैं, किन्तु जब हाथ से भोजन बनाने में हिंसा होती है तो तुम्हारे उद्देश्य से कोई दूसरा भोजन बनाएगा तो उसमें हिंसा नहीं होगी? पातञ्जल योगदर्शन में भी बतलाया गया है कि साधुओं को हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने– तीनों–का त्याग करना चाहिए। ऐसी दशा में स्वयं हिंसा न करके दूसरों से हिंसा कराने में भी पाप होना स्वाभाविक है।

कदाचित् औद्देशिक आहार के संबंध मे यह कहा जाय कि हमने आहार बनाया नहीं और बनवाया भी नहीं, फिर हमें पाप क्यों लगेगा ? किन्तु जो आहार तुम्हारे उद्देश्य से बनाया गया है और जिसे जान-बूझ कर तुमने लिया है, उसमे होने वाली हिंसा के अनुमोदन के पाप से तुम किस प्रकार बच सकते हो ? जब अनुमोदन के पाप के भागी हो गये तो फिर अहिंसा महाव्रत कहाँ अक्षुण्ण रहा ? साधु तो अनुमोदन के पाप का भी त्यागी होता है ! इसीलिए साधु को औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

अब क्रीतकृत अर्थात् साधु के निमित्त खरीद कर तैयार की हुई वस्तु के विषय मे विचार करें। कहा जा सकता है कि मुनि ने बनाया नहीं, बनवाया नहीं, अनुमोदा नहीं और खरीदा भी नहीं है। सिर्फ मुनि के लिए खरीद कर लाया गया है। इसमें क्या बाधा है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है--मुनियों को ऐसा आहार भी नहीं लेना चाहिए; क्योंकि बनाने वाले ने पैसे के लिए बनाया है और यदि पैसा देकर साधु के लिए खरीदा जाता है तो उसके बनाने मे साधु का भी हिस्सा हुआ। रेलगाड़ी तुम्हारे लिए नहीं चलती, पैसे के लिए चलती है। परन्तु जब पैसा देकर उसमें बैठे तो उसके पाप में भागीदार बने या नहीं ?

लोग सीधी चीज कह कर न लेने योग्य वस्तु भी ले लेते हैं। परन्तु जिसके लेने में पाप न होता, भगवान् उसका निषेध क्यों करते ? दूसरे लोग सीधी चीज के चक्कर में पड जाएँ, यह बात अलग है, परन्तु जैन होकर इस चक्कर मे पड़ जाना अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

कहा जा सकता है कि हम परम्परा से ऐसा ही करते आ रहे हैं, तो

इसका उत्तर यह है कि वंश-परम्परा से चला आने वाला रोग क्या रोग नहीं कहा जायगा? क्या वह दूर नहीं किया जा सकता?

भारत के लोग सीधी वस्तु के लोभ में बुरी तरह फँस गये हैं! कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर अशुचि को उत्तम रीति से सुन्दर शीशी में पैक करके भारतीयों के समक्ष पेश किया जाय तो वे उसे ग्रहण करने में भी आनाकानी न करें।

तात्पर्य यह है कि चाहे औद्देशिक हो या क्रीतकृत (खरीदा हुआ) हो, दोनों समान हैं।

तीसरी बात नित्यपिण्ड की है। औद्देशिक या खरीदा आहार आदि न लिया जाय तो न सही, किन्तु नित्य आमन्त्रित होकर आहार-पानी लेने में क्या हर्ज है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है नित्यपिण्ड लेना भी साधुओं के लिए पाप है। ऐसा करना अहिंसा की घात करने के समान है। यह तो तुम जानते हो कि कोई मनुष्य तुम्हारे घर आता है और जब वह भोजन करना स्वीकार करता है, तभी उसके लिए भोजन बनाते हो। अगर कोई पहले ही भोजन करने की मनाई कर दे तो उसके लिए भोजन क्यों बनाओगे? इसी प्रकार अगर साधु प्रतिदिन आवे या तुम्हारे निमन्त्रण को स्वीकार करे तो उसके लिए भोजन बनेगा; अगर वह कह दे कि हम प्रतिदिन नहीं आ सकते, हमें प्रतिदिन एक घर से भोजन लेना नहीं कल्पता, तो फिर गृहस्थ साधु के लिए भोजन क्यों बनाएगा? यही कारण है कि साधु किसी के घर जाने की पहले से ही घोषणा नहीं करते। उनको भिक्षा के संबंध में घरों का कोई नियम नहीं होता। अमुक दिन अमुक के घर जाने या दूसरे, तीसरे अथवा चौथे दिन उसी घर भिक्षा के लिए जाने से

भी गृहस्थ को पता चल जाता है कि आज साधु हमारे घर आएँगे। इस कारण साधु को औद्देशिक, नित्यपिण्ड आदि का पाप लग जाता है। पाप से बचने के लिए आवश्यक है कि साधु पता ही न चलने दे कि वह किस दिन किसके घर आहार के लिए जाएगा?

अनाथ मुनि कहते हैं -राजन्! कुशील साधु आहार आदि के दोषों का विचार त्याग देते हैं। वे अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाते हैं। वे कल्प-अकल्प की परवाह नहीं करते। कोई कल्प-अकल्प के विषय में कुछ कहता है तो उसे उलटा समझा देता है। ऐसा कुशील पुरुष भले थोड़े दिन मौज कर ले, किन्तु अन्त में तो उसे कटुक पाप फल प्राप्त होता ही है।

अनाथ मुनि कहते हैं—जो लोग साधु बनकर फिर अनाथ बन जाते हैं, वे अनाथ तो बनते ही हैं, साथ ही पतित बनते हैं। वे अपनी साधुता की कीमत नहीं समझते। पहले साधुता में दोष लगाना और फिर उस दोष को दोष न समझना साधुता से पतित होना है। अतएव साधुता का पालन करने में सावधान रहो। अरिहन्त की आज्ञा में चलने वाले को किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। कदाचित् किसी वस्तु की कमी प्रतीत हो तो उस समय विचार करना चाहिए कि मुझे तो परीषह सहन करके भी अरिहन्त की आज्ञा का आराधन करना है।

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते हुए अंगार रक्खे गये थे, फिर भी क्या उन्होंने सोचा कि 'भगवान् की शरण में आने पर भी मेरे मस्तक पर अंगार रक्खे जा रहे थे, फिर भगवान् की आज्ञा मानने का फल ही क्या हुआ? गजसुकुमार मुनि ऐसा सोचते तो गजब ही हो जाता। गजसुकुमार के निर्वाण के पश्चात् श्रीकृष्ण के कथन के उत्तर में भगवान्

अरिष्टनेमि ने कहा था—'गजसुकुमार मुनि को एक सहायक पुरुष मिल गया था।'

जब भगवान् ऐसा कहते हैं तो स्वयं गजसुकुमार की भावना कैसी रही होगी? इस घटना को अपने सामने रख कर जब किसी बात की कमी मालूम पडे तो यही विचार करो कि मुझे तो भगवान् की आज्ञा का पालन करना है। कभी आहार न मिले तो विचार करो कि आज मुझे आहार नहीं मिला और बहुत क्षुधा सता रही है, किन्तु इस प्रकार की भूख तो मैंने बहुत बार सहन की है। ऐसा विचार करके समभाव के साथ वेदना को सहन कर लेना चाहिए और भगवान् का भजन करना चाहिए।

इस भावना को समक्ष रख कर सङ्कट के समय कुछ विचार रक्खे जाएँ तो भले शरीर-पात हो जाय, फिर भी आत्मा का तो कल्याण ही होगा। तो इस प्रकार दृढ रह कर धर्म का पालन करना है, उसे किसी प्रकार की अपूर्णता प्रतीत नहीं होती। शास्त्र मे कहा है:—

देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो।

जिस दृढधर्मी के चरणों में देवता भी नमस्कार करते हैं, उसे किसी चीज की कमी नहीं हो सकती।

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दया विहूणो॥ ४८॥

अर्थात्—दुरात्मा अपना जितना अहित करता है, उतना गला

काटने वाला दयाविहीन वैरी भी नहीं करता। मृत्यु के मुख में पड़ने पर दुरात्मा को घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है।

मुनि कहते हैं—राजा, संसार में वैरी को अहित करने वाला माना जाता है। जो जितना अधिक अहित करे, वह उतना ही अधिक दुश्मन समझा जाता है। दुश्मन द्वारा अधिक से अधिक अहित गला काटने का होता है. इससे अधिक कोई अहित वैरी द्वारा नहीं माना जाता। यह, वैरी द्वारा होने वाले अहित की चरम सीमा है। सासारिक लोग कहते ही हैं, कि, अमुक व्यक्ति यदि हमारा वैरी है, तो अधिक से अधिक हमारा गला काट डालेगा, और क्या करेगा ? अर्थात्, वैर पूरा करने की सीमा इतनी ही है, इससे अधिक वैरी कुछ नहीं कर सकता ! यह भी वही वैरी करेगा, जो दयाहीन हो। लेकिन राजा, दुरात्मा से तो अपने आपका वह अहित होता है, जो अहित, वैरी कहलाने वाले से भी नहीं हो सकता। बल्कि वैरी बने हुए व्यक्ति को, सुआत्मा अपना हित करने वाला मानता है; जैसे कि गजसुकुमार मुनि, सोमल को अपना सहायक मानता था। ऐसे समय पर, सुआत्मा सोचता है, कि मैं इस मारने वाले से नहीं मर सकता, मैं तो अपने आप से ही मर सकता हूँ—यानी अपने कार्यों से ही दुःख पा सकता हूँ। यदि, वैरी द्वारा गर्दन कटने पर आत्मा में समता रहे तो वह गर्दन काटने वाला, मोक्ष प्राप्त कराने का साधन भी हो सकता है। लेकिन दुरात्मा अपने आपका, वैरी के गला काटने से भी अधिक अहित करता है। मृत्यु के मुख में पड़ने पर, दुरात्मा, अपने आप ही पश्चाताप की अग्नि से जलने लगता है। जिस समय वह नरकादि की वेदना भोगता है, उस समय पश्चाताप होता है, कि 'मैंने संयम स्वीकार करके भी उसकी विराधना

क्यों कर डाली ! मै, थोडे से नाशवान विषय-भोग के लोभ में क्यों पड़ गया ! यदि मैंने विषय लोलुपता से, या प्रमाद वश, संयम की विराधना न की होती, तो आज मुझे नरक तिर्यंच गति में जन्म लेकर, ये कष्ट क्यों भोगने पड़ते ? वे सासारिक विषय-भोग जिनमें पड़ कर, मैंने सयम की विराधना की थी – वहीं रह गये, और मुझे ये कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। यदि मैंने, संयम का भली-प्रकार पालन किया होता, संयम की अवहेलना न की होती, तो आज मैं उस सुख में होता, जो सुख अविनाशी है।

यहाँ प्रश्न होता है कि गला काटने वाला वैरी तो प्रत्यक्ष में ही गला काटता है, शरीर नाश करता है, लेकिन दुरात्मा, अपने आपकी प्रत्यक्ष में ऐसी कोई हानि नहीं करता, फिर दुरात्मा को, कण्ठ काटने वाले वैरी से भी अधिक अपने आपका अहित करने वाला कैसे कहा ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि सिर काटने वाला वैरी, शरीर का ही नाश करता है, आत्मा का वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता। केवल शारीरिक हानि ही हानि नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक हानि ही वास्तविक हानि है। आस्तिक लोग, आत्मा को अविनाशी और शरीर को नाशवान मानते हैं। इसलिए उनके समीप, शरीर का नष्ट होना कोई हानि नहीं है। वे,प्रत्यक्ष या इस लोक को ही नहीं मानते, किन्तु इसके साथ ही, परोक्ष और लोक को भी मानते हैं। यह उपदेश, आस्तिकों के लिए ही है। जो लोग, शरीर के साथ ही, आत्मा का भी नाश मानते हैं, आत्मा और शरीर को, दो नहीं, किन्तु एक ही जानते हैं, ऐसे लोगों के लिए यह उपदेश नहीं है। इसलिए, दुरात्मा द्वारा की हुई अपने आपकी हानि, प्रत्यक्ष में चाहे न दिखती हो, प्रत्यक्ष में चाहे लाभ ही दिखता हो, लेकिन मृत्यु के पश्चात् परलोक में

वह दुरात्मा भीषण सङ्कट मे पड़ता है, और आस्तिक लोग, परलोक मानने से इन्कार नहीं कर सकते। आस्तिक लोग, आत्मा को अविनाशी मानने के साथ ही, परलोक पर भी विश्वास करते हैं। तात्पर्य यह कि हानि की सीमा, प्रत्यक्ष दिखने तक ही नहीं है, किन्तु चर्म-चक्षु से न दिखनेवाली हानि भी है, जिसे ज्ञानी लोग, अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं। परलोक में होने वाली हानि को, चर्म-चक्षु से नहीं देखा जा सकता। किन्तु ज्ञान-चक्षु से ही देखा जा सकता है। उस हानि को, चर्म-चक्षु से ही देखने की इच्छा करना, भूल है और नास्तिकता का चिन्ह है।

अनाथ मुनि कहते हैं राजा, मृत्यु के मुख में पड़ने पर, दुरात्मा को महान् पश्चाताप होता है। पश्चाताप के साथ ही, उसे नरक तिर्य च गति के महान् से महान् कष्ट भी भोगने पड़ते हैं।

लोगों को नरक का भय लगता है, परन्तु नरक आता कहाँ से है? नरक तो दूर रहा, कसाईखाना भी कहाँ से आया है? वास्तव में नरक या कसाईखाने को दुरात्मा ही उत्पन्न करता है। दुरात्मा ही काटा जाता है और दुरात्मा ही कटवाता है।

भगवान् ने तीन प्रकार के पुद्गल बताये हैं। उनमें से पहले प्रकार के पुद्गल वह हैं जिन्हें आत्मा ने ही खराब बना दिया है। पुद्गल तो अपने ही स्वरूप मे रहते हैं, किन्तु दुरात्मा उन्हें भी खराब कर देता है। उदाहरणार्थ आपने खीर का भोजन किया। आप जानते हैं कि खाने से पहले खीर स्वाद रूप, गंध आदि की दृष्टि से कैसी थी और पेट में जाकर पच जाने पर कैसी बन जाती है? तो खीर के पुद्गलों को आत्मा ने ही खराब किया है या नहीं? ग्रंथों में कहा है कि सवा लाख कीमत के कपड़े

भी एक ही बार पहनने पर निर्माल्य-निकम्मे हो जाते हैं। उन कपड़ों को निर्माल्य बनाने वाला कौन है? इस प्रकार पुद्गलों को खराब बनाने वाला आत्मा ही है। आत्मा ही पुद्गलों को शस्त्र के रूप में परिणत करता है। अगर आत्मा दुरात्मा न हो तो तलवार को भी फूलों की छड़ी बना सकता है।

तुम्हें जो इन्द्रिया मिली हैं, वह आत्मा के कल्याण के लिये ही मिली हैं। अनन्तानन्त पुण्य का संचय होने पर एक-एक इन्द्रिय मिलती है। किन्तु इतने प्रकृष्ट पुण्य से प्राप्त इन्द्रियों को दुरात्मा कहा-कहा भटका रहा है? साधु भी यदि संयम से पतित होता है और इन्द्रियों का दुरुपयोग करता है, तो वह भी दुरात्मा है। दुरात्मा ससार में तो आनन्द मानता है, परन्तु जब मौत के मुख में पड़ता है, तब उसे घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है। उस समय लक्षण, ज्योतिष, मन्त्र आदि का ज्ञान और प्रयोग कुछ भी काम नहीं आता। जिसने अहिंसा की विराधना की है और जो दया को गंवा बैठा है, वह जब मौत के मुंह में पहुँचता है तो उसके पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती।

महमूद गजनवी के विषय में कहा जाता है कि उसने १७ बार भारत को लूटा था। अनेक लोगों को बहुत कष्ट देकर बहुत सा धन ले गया था। परन्तु जब वह मरने लगा तो उसने उस धन का अपने सामने ढेर कराया और उसे देख-देख कर विलख-विलख कर रोने लगा। वह क्यों रोया, इस सबंध में निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता; किन्तु सभवतः वह इस विचार से रोया होगा कि—

'मैं लोगों को तरह तरह से कष्ट देकर धन लाया, इसका संचय किया और आज यह धन यहीं पड़ा रह जाएगा। फूटी कौड़ी भी मेरे साथ नहीं

जाएगी।' संभव है इस प्रकार का पश्चात्ताप होने के कारण ही वह रोया हो।

इसी प्रकार दुरात्मा जब मृत्यु के मुँह में पड़ता है, तब पश्चात्ताप करने लगता है। तुम भी अपने विषय में विचार करो कि – हम गरीबों को सताकर धन इकट्ठा करेंगे, किन्तु वह हमारे साथ नहीं जाएगा तो कितना पश्चात्ताप करना पड़ेगा?

मैंने यह बात तुम्हारे लिए कही है। परन्तु मुझे भी अपने संबंध में विचार करना चाहिए कि—हे आत्मन्! अगर तू दूसरों को प्रसन्न करने में और अपने सामने नमाने में ही रह गया, कोरी वाह-वाह करवा ली और किंचित् भी स्व-पर दया न की तो आखिर तुझे भी पछताना पड़ेगा।

अनाथी मुनि इस प्रकार शिक्षा देकर कहते हैं—आखिर तो तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारे काम आएगी। दूसरा कोई काम नहीं आ सकता। अतएव जो सत्य हो, जो भगवान् की आज्ञा में हो और जिस से स्व-पर की दया हो, तू वही काम कर, इससे विपरीत मत कर।

अनाथ मुनि की यह शिक्षा जीवन में अवतरित की जाय तो अवश्य ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। अगर आप दया और परमात्मा की की शिक्षा को भलीभांति जान लें तो समझ लो कि आपने सब कुछ जान लिया। इससे अधिक जानने को कुछ नहीं रह जाता। शास्त्र में कहा है कि किसी भी जीव की हिंसा न करना, यही सब धर्मों का सार है।

कोई मनुष्य हजार दो हजार वर्ष पुराना लिखा शास्त्र बतला कर तुमसे कहे कि भगवान् वीतराग फूलों की माला पहन कर बैठे थे, तो क्या तुम उसकी बात मान लोगे? तुम यही कहोगे किसी विकारी ने ऐसा लिख

दिया होगा। वीतराग भगवान् ऐसी सासारिक भावना में नहीं पड़ सकते।

इसी प्रकार कोई कहे -मुनियों को कम से कम पाच रुपया तो अपने पास रखने ही चाहिए। पास में रुपये हों तो कभी काम में आ सकते हैं। क्या आप इस कथन को मान लेंगे? कदाचित् कोई कहे कि यह मुनि आध्यात्मिकता में बहुत आगे बढे हैं, यह पाच रुपये रक्खें तो कोई हर्ज नहीं है। तो भी आप इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होंगे। आप यही कहेंगे कि ऐसा करना भगवान् की आज्ञा में नहीं है। तो भगवान् की आज्ञा पर इसी प्रकार विचार करते जाओ और उसी पर दृढ रहो। ध्वजा की तरह इधर-उधर मत फिर जाओ। अन्यथा पश्चात्ताप करना पडेगा।

अनाथ मुनि राजा श्रेणिक को उपदेश दे रहे हैं। यह उपदेश एक तरह से मुनियों को उपालम्भ रूप है, किन्तु प्रेम के कारण ही यह उपालम्भ दिया जा रहा है। कोई सज्जन पुरुष किसी को उपालम्भ देता है तो आत्मीय समझ कर ही देता है। जिसे पराया समझा जाता है उसे कौन उपालम्भ देने जाता है। उसके विषय में तो यही कहा जाता है कि मुझे उससे क्या सरोकार है! अनाथ मुनि प्रेम से उपालम्भ देते हुए कहते हैं—साधुओ। तुमने किस काम के लिए साधुपन अंगीकार किया है और क्या काम कर रहे हो? तुम्हारा और हमारा ध्येय एक ही है। ससार-भावना के कारण तुम मुझसे अलग न हो जाओ।

जैनधर्म की दृष्टि प्रेम की है। किसी भी आत्मा को कष्ट न देना उसका उद्देश्य है। उसका मुद्रालेख है—

मित्ती मे सव्वभूएसु।

अर्थात्—प्राणी मात्र के प्रति मेरा मैत्रीभाव है। इसी मैत्रीभाव के कारण अनाथ मुनि, दूसरों को सावधान और सतर्क कर रहे हैं।

मुनि, श्रेणिक के सामने कहते हैं—अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो धर्म और परमात्मा के नाम पर खराब काम कर रहे हैं और खराब काम करते हुए भी अपने आपको साधु कहलाते हैं। ससार में बुरे और भले दोनों प्रकार के लोग होते हैं। हजारों वर्ष पहले भी ऐसे लोग थे जो साधुता के नाम पर असाधुता के काम करते थे। किन्तु ऐसे कायरों के कारण साधु मात्र की निन्दा करना अनुचित है।

शास्त्र कहता है—संसार साधुओं के कारण ही शाति का अनुभव कर रहा है। इस ससार में जब साधु नहीं रहेंगे तब यह पृथ्वी तप कर लाल गोले के समान हो जायगी और इस पर रहना अत्यन्त कठिन हो जायगा। भगवान् ने कहा है—इस पंचम काल के अन्त में जब तक एक भी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका है, तब तक शाति रहेगी। साराश यह है कि धर्म के कारण ही शाति मिल रही है। अतएव धर्म के नाम पर ढोंग करने वाले लोगों के कारण धर्म की निन्दा करना उचित नहीं।

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए,
दुहओवि से झिज्झइ तत्थ लोए ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो उत्तमार्थ को विपरीत करता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को विपरीत समझता है और उसके प्रति अरुचि रखता है, उसका संयम

लेना वृथा है। उसके लिए यह लोक भी कल्याणकारी नहीं होता और परलोक भी कल्याणकारी नहीं होता ? वह दोनों लोकों में दुःख पाता है ।

व्याख्यान—साधु का वेष धारण करके भी असाधुता का काम करने वाले लोगों के संबंध में मैं ही ऐसा नहीं कहता हूँ, परन्तु शास्त्र भी ऐसा ही कहता है। साथ ही शास्त्र के इस कथन के अनुसार भगवान् महावीर की परम्परा के सभी अनुयायी ऐसा ही मानते आ रहे हैं। सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि उत्तमार्थ को नष्ट करने वाले का संयम ग्रहण करना या साधुवेष धारण करना निरर्थक है।

उत्तमार्थ क्या है, इस संबंध में विचार करें। उत्तमार्थ का आशय समझने पर ही स्थूलता में से सूक्ष्मता मे पहुँचा जा सकता है और भौतिकता से आध्यात्मिकता में जाया जा सकता है। साधारणतया यह भौतिक संसार व्यर्थ कहा जाता है, किन्तु भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सम्बन्ध है। अर्थात् भौतिक संसार और आध्यात्मिक संसार परस्पर सम्बन्धित होने से भौतिक संसार व्यर्थ नहीं है।

आज कुछ लोग यह समझते हैं कि आध्यात्मिकता वह वस्तु है जो हमारी समझ में न आ सकती हो। अर्थात् जो बात समझ में न आती हो, उसी का नाम आध्यात्मिकता रख दिया गया है। एक बार युनिवर्सिटी के किसी छात्र ने अपने प्रोफेसर से पूछा—आध्यात्मिकता किसे कहते हैं ? तब प्रोफेसर ने कहा—मान लो, मोहन और सोहन बात कर रहे हैं। मोहन की बात सोहन न समझे और सोहन की बात मोहन न समझे; बस इसी को आध्यात्मिकता कहते हैं।

आध्यात्मिकता के संबंध में ऐसे विचार बना लेना भ्रमपूर्ण है। वास्तव

में अध्यात्मवाद बहुत सुगम है और सभी उसे समझ सकते हैं । यद्यपि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद परस्पर सम्बद्ध हैं, तथापि भौतिकवाद का ध्येय नहीं बनाना चाहिए। भौतिकवाद को ध्येय बनाने से संसार में बड़ी गड़बड़ी फैली है। हाँ, अध्यात्मवाद को समझने के लिए भौतिकवाद को समझना आवश्यक है। उदाहरणार्थ--आत्मा को शरीर द्वारा ही समझा जा सकता है; शरीर के बिना नहीं। इस प्रकार अध्यात्म का परिचय कराने वाला भौतिकवाद ही है, तथापि भौतिकवाद को ही पकड़ कर नहीं बैठना चाहिए और यह देखना चाहिए कि अध्यात्मवाद के सहारे भौतिकवाद है अथवा भौतिकवाद के सहारे अध्यात्मवाद है ? स्थूल के आधार पर सूक्ष्म टिका है या सूक्ष्म के आधार पर स्थूल टिका है ? कौन किसके सहारे टिका है ?

जिसे हम देख सकते हैं, जिसमें रूप, रंग, वजन आदि हैं, वह स्थूल कहलाता है और जिसे आँख से देखना सम्भव नहीं है, जिसमें रूप, रंग, वजन आदि नहीं हैं, वह सूक्ष्म कहलाता है। यह संसार इन दोनों में से किसके आधार पर टिका है ? यह देखने के लिए सब से पहले आप शरीर को ही देख लीजिए। आपके शरीर के दो भाग हैं--एक स्थूल भाग और दूसरा सूक्ष्म भाग । चर्मचक्षु से दृष्टिगोचर होने वाला रक्त मांस आदि स्थूल भाग है और जो श्वास दिखाई नहीं देता वह सूक्ष्म भाग है। अब देखना चाहिए कि शरीर का टिकाव किसके आधार पर है ? स्थूल के आधार पर अथवा सूक्ष्म के आधार पर ? श्वास के आधार पर रक्त-मांस आदि हैं या रक्त-मांस आदि के आधार पर श्वास है ? आप लोग इस बात को भलीभाँति जानते हैं और कहते हैं—

जीवने श्वास तणी सगाई,
घरमां घड़ी न राखे भाई।

जब तक शरीर में श्वास है तब तक भाई उसे घर में रहने देता है, पर श्वास निकल जाने पर भाई भी कहने लगता है—इस शरीर को जल्दी बाहर निकालो। इस प्रकार संसार में श्वास की ही सगाई है और यह श्वास सूक्ष्म है।

शास्त्र श्वास को सूक्ष्म कह कर नहीं रुक जाता। वह बतलाता है कि यह सूक्ष्म श्वास भी स्वतन्त्र नहीं है। श्वास प्राण है, परन्तु वह प्राणी का प्राण है। अतएव यह देखो कि श्वास प्राण को धारण करने वाला प्राणी कौन है? श्वास प्राण को शक्ति देने वाला कौन है? आप कहते हैं—मैं चाहूँ तो श्वास जल्दी-जल्दी ले सकता हूँ और चाहूँ तो धीरे-धीरे ले सकता हूँ। तो जल्दी-जल्दी और धीरे-धीरे श्वास लेने वाला कौन है? श्वास में जिसकी शक्ति है, जो जल्दी-जल्दी श्वास ले सकता है और रोक सकता है, वही आत्मा है और वह श्वास से भी अधिक सूक्ष्म है। वह दृष्टिगोचर नहीं होता। अगर वह दृष्टिगोचर होता तो नाशवान् हो जाता। जो दिखाई देता है वह नाशवान् होता है।

इस आधार पर आप विश्वास कीजिए कि आत्मा की उपस्थिति में ही यह सब खेल चल रहा है। सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व से ही स्थूल शरीर टिका है। सूक्ष्म आत्मा के अभाव में स्थूल शरीर टिक नहीं सकता और नष्ट हो जाता है। आत्मा की मौजूदगी में तो शरीर सौ वर्ष तक टिक सकता है, परन्तु आत्मा के अभाव में कुछ दिन तक भी नहीं ठहर सकता। अतएव यह शरीर जिसका कार्य है, उस कारण भूत आत्मा को देखो और मानो कि

स्थूल और सूक्ष्म—दोनों की आवश्यकता है, पर ध्येय स्थूल नहीं, सूक्ष्म ही है। क्योंकि स्थूल के आधार पर सूक्ष्म नहीं, पर सूक्ष्म के आधार पर स्थूल है। इस प्रकार अध्यात्मवाद को समझना कुछ कठिन नहीं है।

जिस आत्मा की सत्ता से ही स्थूल संसार चल रहा है, उसे पहचानना ही उत्तम अर्थ है। जो इन्द्रिय विषयों के मोह में पड़ जाता है और आत्मा को भूल जाता है, वह उत्तमार्थ को नष्ट करता है। कहावत है—चौवेजी छब्बे बनने चले तो दुबे ही रह गये। कमाई करने चले और पूंजी भी गँवा बैठे। ऐसा करना विपरीत कृत्य है। विपरीत कृत्य करना उत्तमार्थ को नष्ट करना है। इसी कारण अनाथ मुनि कहते हैं—हे मुनियो! तुमने उत्तमार्थ को प्राप्त करने के लिए साधु व्रत धारण किया; परन्तु सांसारिक झंझटों में पड़कर उस उत्तमार्थ को नष्ट कर रहे हो। क्या तुमने उत्तमार्थ को नष्ट करने के लिए साधुपन ग्रहण किया है?

किसी साधु से पूछा जाय कि क्या आपने भोगोपभोग भोगने के लिए साधुपन लिया है? तो कोई भी 'हाँ' नहीं कहेगा। कोई यह तो कह सकता है कि हम से साधुपन नहीं पलता; किन्तु यह नहीं कह सकता कि भोग भोगने के लिए हम साधु बने हैं! फिर भी कितने ही लोग अन्दर ही अन्दर उत्तमार्थ को नष्ट करते हैं और ऊपर-ऊपर से उत्तमार्थ को साधने का ढोंग करते हैं। ऐसे लोग न तो इस लोक के रहते हैं, न परलोक के रहते हैं।

ऐसे लोग इस लोक के क्यों नहीं रहते? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार गृहस्थ जन इह लोक की साधना कर सकते हैं, उस प्रकार साधु वेषधारी नहीं। उदाहरणार्थ—आप अपने शौक के लिए पीतल या

चांदी के बरतन भी रख सकते हैं, परन्तु वे ऐसे बरतन नहीं रख सकते। उन्हें लकड़ी, तूंबा या मिट्टी के ही पात्र रखने पड़ेंगे, परन्तु पीतल और चाँदी के पात्रों की लालसा बनी रहेगी। इस प्रकार लालसा पूर्ति न होने के कारण उनका इह लोक बिगड़ जायगा। उसका शौक पूरा न होगा। साथ ही उनका परलोक, तो बिगड़ ही जाता है। क्योंकि वे अपनी कामनाओं पर विजय नहीं पा सके।

उत्तमार्थ को नष्ट करने वाले लोग उस भीलनी के समान हैं, जिसे भाग्य से हाथी के मस्तक में से निकला मोती मिल गया हो और उसने कंकर समझ कर उसे फैंक दिया हो। अथवा वह उस मूर्ख के समान है जिसे जंगल मे बावन चन्दन की लकड़ी मिल गई हो और वह उसे आग में जलाकर रोटी बना रहा हो। जैसे यह भीलनी और यह मूर्ख भयंकर भूल कर रहा है, उसी प्रकार साधु का वेष धारण करके उत्तमार्थ को नष्ट करने वाला भी भयंकर भूल करता है। ऐसे लोग न इधर के रहते हैं, न उधर के रहते हैं।

आप गृहस्थ लोग रंग-बिरंगे वस्त्र पहन सकते हैं, परन्तु साधु तो श्वेत वस्त्र ही पहन सकता है। फिर भी अगर वह उसी श्वेत वस्त्र से अपना शृंगार करे और अपनी शौक पूरा करना चाहे और सांसारिक मजा मौज लूटना चाहे तो कहना चाहिए कि उसने उत्तमार्थ को भी नष्ट किया और संसार का पूरा मजा भी न लूटा। उसके विषय में यही उक्ति चरितार्थ होती है—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

न तो उसने साधुधर्म का पालन किया और न इस लोक का रहा। इस प्रकार की दुर्दशा से दूर रहने की चेतावनी देने के लिए ही अनाथ मुनि ऐसा कह रहे हैं। उन्हें किसी से द्वेष नहीं है। वे जो कुछ कह रहे हैं, साधुओं का हित दृष्टि मे रख कर ही कह रहे हैं, कि—'हे मुनियो। तुम ऐसा उत्तम अर्थ प्राप्त करके भी अगर फिर स सार के झंझटों में पड़ जाओगे तो कहीं के नहीं रहोगे।'

यह साधुओं की बात हुई। आप श्रावक भी अपने संबंध में विचार करो। आप तो उत्तमार्थ को नष्ट नहीं कर रहे हो? जब कोई साधु उत्तमार्थ को नष्ट करता है, तब तो तुम उसे बहुत बुरा बतलाते हो, पर यह भी देखो कि तुम अपने श्रावकत्व में तो कोई दोष नहीं लगा रहे हो? अगर तुम अपने धर्म पर दृढ रहो तो कोई साधु तुम्हारे सामने ढोंग करने की हिम्मत नहीं कर सकता। मगर तुम तो दूसरों को ही देखते हो। अपने को नहीं देखते कि हम श्रावक होकर क्या कर रहे हैं। किस प्रकार उत्तमार्थ को नष्ट कर रहे हैं। तुम श्रावक अगर चर्बी लगे वस्त्र न पहनो तो क्या तुम्हारे श्रावकपन में कोई बट्टा लग जाएगा? अगर नहीं, तो क्यों नहीं विचार करते कि हम तुच्छ खान-पान और पोशाक मे उत्तमार्थ को किस प्रकार नष्ट कर रहे हैं।

एक भाई ने मुझे बतलाया था कि विवाह के अवसर पर यहाँ महाजनों के घर चार-पाँच सौ रुपये का रेशमी कपड़ा लाया जाता है। मैं यह नहीं कहता कि तुम गरीबों को भिखारी बनाओ, पर यह तो देखो कि इस रूढि के कारण गरीबों को कितना परेशान होना पड़ता है। अगर आप ऐसी रूढिया मिटा दें तो क्या गरीबों पर दया न होगी?

वर विक्रय के सम्बन्ध में भी यही बात है। मुझे कहा जाता है कि यहाँ

कोई बिरला ही घर विक्रय करता होगा। उसके कारण सारे राजकोट को क्यों बदनाम किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि कदाचित् यहाँ के एक दो घरों में आग लगी हो तो क्या यह नहीं कहा जायगा कि राजकोट में आग लगी है!

अभिप्राय यह है कि जैसे साधु अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके उत्तमार्थ को नष्ट करता है, उसी प्रकार श्रावक भी अपनी मर्यादा के विपरीत कार्य करके उत्तमार्थ का विनाश करता है। अतएव दोनों को ही अपनी अपनी मर्यादाओं के अनुसार आचरण करना चाहिए और रुचि एवं प्रीति के साथ उत्तमार्थ की अराधना करनी चाहिए। रुचि और उत्साह के साथ संयम का पालन करने पर कष्ट का अनुभव नहीं होता। रुचि हो तो केशलुंचन करना, पैदल चलना और भिक्षा माँगना भी अपूर्व आनन्द-दायक बन जाता है। जैसे गृहस्थ लोग पुत्र-पुत्री के विवाह के अवसर पर रात-दिन परिश्रम करते हैं, क्षुधा–तृषा सहते हैं, फिर भी उसमें आनन्द ही मानते हैं। उसी प्रकार रुचि और उत्साह के साथ संयम पालने वाला परिषह सहन, केशलुंचन आदि में भी आनन्द ही मानता है। ऐसे ही लोगों का संयम धारण करना सार्थक है। जो अरुचि के साथ संयम पालते हैं, संयमपालन में कष्ट का अनुभव करते हैं, उनका संयम लेना निरर्थक है। वह अपने दोनों लोकों को दुखःमय बनाता है।

एमेव हु छंदकुसीलरूवे,
मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा,
निरट्ठसोया परियावमेइ ॥५०॥

अर्थ—जिस प्रकार कुररी (एक जाति की पक्षिणी) मास के लिए लालायित रहती है, उसी प्रकार साधुवेशधारी असंयमी लोग रस आदि भोगोपभोगों के लिए लालायित रहा करते हैं। वे स्वच्छन्द होकर, उत्तम जिन मार्ग की विराधना करके निरर्थक सोच तथा पश्चाताप करते हैं।

व्याख्यान—अनाथ मुनि कहते हैं—राजन् कितने ही लोग अनाथ अवस्था में से निकलने के लिए साधुपन तो धारण कर लेते हैं, पर विषयाभिलाषा उन्हें पुनः ससार की ओर घसीट ले जाती है। तात्पर्य यह है कि जो स्वच्छंदता का त्याग नहीं करता और भगवान् की आज्ञा के अनुसार नहीं चलता, वह कुशील है और कुशील पुरुष वीतराग के मार्ग की विराधना करता है।

मान लीजिए, आप केला-नारङ्गी खरीदने के लिए बाजार गये। आपने देखा कि केला नारगी ऊपर-ऊपर से तो अच्छे हैं, पर भीतर से खराब हैं। तो क्या आप उन्हें खरीदेंगे ? नहीं। क्योंकि आपको उनके ऊपरी रूप रग से प्रयोजन नहीं है, बल्कि उनमें रहे हुए जीवनदायक और पोषकतत्त्व से प्रयोजन है। आप उन्हीं फलों को खरीदना पसंद करेंगे जिन में जीवनदायक तत्त्व समझेंगे।

इस प्रकार आप दो पैसे की नारंगी और दो पैसे का केला खरीदते समय तो इतना देखते हो, किन्तु जिनके साथ आत्मा के कल्याण-अकल्याण का सम्बन्ध है, उन साधुओं के विषय में यह नहीं सोचते कि उनमे हमारी आत्मा का कल्याण करने की योग्यता है अथवा नहीं ! आपको साधुओं का ऊपरी वेष ही नहीं देखना चाहिए, किन्तु भीतर के गुण भी देखने चाहिए। सच्ची साधु सगति वही है, जिससे आपकी आत्मा में रही हुई साधुता जागृत

हो । जिनकी संगति से साधुता की हानि होती है, वह तो असाधुओं की सगति है ? आत्मा के गुणो की हानि करने वालों को मानने और वन्दन-पूजन करने से क्या हानि होती है, इस विषय में 'सम्बोधसत्तरी' नामक ग्रन्थ मे कहा है—

पासत्थं वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होइ ।
होई कायकिलेसो, अन्ताणं कम्म वन्धइ ॥

इस गाथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले भी पासत्था लोगो की बहुतायत थी और उस समय भी उनके विरुद्ध आन्दोलन किया जाता था ।

जो साधु का वेष धारण करता है और पॉच महाव्रतो को अंगीकार भी करता है, किन्तु उनका यथावत् पालन नहीं करता, वह 'पासत्था' कहलाता है । ऐसे पासत्था साधुओ को वन्दन-नमस्कार करना शोभास्पद नहीं है, यही बात इस गाथा मे बतलाई गई है । कहा जा सकता है कि शोभास्पद न हो तो भी क्या हर्ज है ? संसार में बहुत-से काम ऐसे भी किये जाते हैं, जो शोभास्पद नहीं होते, फिर भी करने पडते हैं । इसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि पासत्था साधु को वंदन-नमस्कार करने से लेश मात्र भी निर्जरा नहीं होती । इस पर भी कहा जा सकता है कि गृहस्थी में रहते अनेक काम ऐसे करने पड़ते हैं, जिनसे निर्जरा नहीं होती । उन कामों की तरह यदि पासत्था साधुओ को वन्दना-नमस्कार भी कर ले तो क्या हर्ज है ? इसका उत्तर यहाँ दिया गया है कि काया को व्यर्थ ही कष्ट होता है । इस पर भी कोई कह सकता है कि हमे कायकष्टकारी अनेक कार्य करने पड़ते हैं तो उनके साथ एक और अधिक सही । इसका उत्तर यह है कि पासत्था को वन्दना करने से अज्ञान-कर्म का बंध होता है । पासत्था साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र की

विराधना करता है, अतएव उसे वन्दना करना ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विराधना में सहायता देने के बराबर है। इसी कारण वन्दना करने वाले को अज्ञान-कर्म बँधता है। भगवान् ने निशीथ सूत्र मे कहा है:-

जे भिक्खू पासत्थं वंदइ, वंदतं वा साइज्जइ।

एवं जाव ससत्तं वदइ, वंदतं वा साइज्जइ।

किसी पर द्वेष होने के कारण भगवान् ने ऐसा नहीं कहा है। उन्होंने तुम्हारे कल्याण के लिए ही कहा है। जब तुम पासत्था साधु से स्पष्ट कह दोगे कि-'हम केवल हाड मास के पुजारी नहीं, गुणों के पुजारी हैं। तुम्हारे साथ हमारा सम्बन्ध भगवान् की आज्ञा मानने के कारण ही है। ऐसी स्थिति में अगर तुम भगवान् की आज्ञा नहीं मानते तो हमारा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता।' तो तुम्हारी इस दृढता को देखकर पासत्था भी ठिकाने आ जायगा और भगवान् की आज्ञा का उल्लघन करने से पहले उसे विचार करना पडेगा। किन्तु अगर तुम उसके सहायक बन गये, उसके द्वारा होने वाली रत्नत्रय की विराधना में सहायता पहुँचाने लगे, तब तो उसके पासत्थापन के पोषक हो जाओगे और आपका ऐसा करना पासत्था को और अधिक बिगाडना होगा।

भगवान् की आज्ञा का उल्लघन करने वाले साधु के लिए अनाथ मुनि एक पक्षी का उदाहरण देते हैं। महापुरुषों की धारणा है कि लौकिक उदाहरण देकर कही जाने वाली बात जल्दी समझ में आ जाती है।

कुरर पक्षी के मादा को कुररी कहते हैं। कहते हैं, जहाँ पानी के सरोवरों की बहुलता होती है, वहा यह पक्षी रहता है। इसका रंग काला होता है। मछली का मास इसे प्रिय है। वह दिन भर मछली के मास

के लोभ मे ही रहता है और मास खाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, पर रोता ही रहता है।

यहा इसी पक्षी का दृष्टान्त देकर मुनि कहते हैं—वे असाधु कुररी पक्षिणी की भाति भोग भोगने में निरन्तर आसक्त रहते हैं और इस कारण कष्ट भोगते हैं।

यह उदाहरण देकर महात्मा पुरुषों ने इस नियम का प्रतिपादन किया है कि जो नियम सिन्धु के लिए है, वही बिन्दु के लिए भी है। इस नियम के अनुसार जो बात साधुओं के लिए है, वही अपनी-अपनी योग्यता और मर्यादा के अनुसार सब के लिए समझना चाहिए आपको यह भी समझना चाहिए कि पशु-पक्षी ही नहीं, वरन् ससार के समस्त पदार्थ कुछ शिक्षा देते हैं और सभी अच्छे या बुरे पदार्थ किसी न किसी रूप में आत्मा का उत्थान करने मे सहायक होते हैं। यह बतलाने के लिए ही अनाथ मुनि ने कुररी का उदाहरण देकर कहा है कि जैसे कुररी को मास की गृद्धि के कारण दुख भोगना पड़ता है, उसी प्रकार साधु बनकर सासारिक भावना में पड़ने वालों को भी दुःख उठाना पड़ता है।

सड़ी नारगी स्वयं तो सड़ती ही है, साथ ही जो उसके ससर्ग में आती है उसे भी सड़ा देती है, इसी प्रकार जिनाज्ञा का लोप करने वाला अपनी हानि तो करता ही है, जो उसकी संगति करता है, उसकी भी हानि करता है।

यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि कुशीलो के प्रति द्वेष होने से अनाथ मुनि ने ऐसा कहा है। सचाई यह है कि उन्होंने प्रेम और करुणा होने के कारण ऐसा कहा है। कभी-कभी पिता अपने पुत्र को सख्त

सजा भी देता है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने पुत्र का शत्रु है। सख्त दण्ड देते समय पिता की एक मात्र यही इच्छा होती है कि मेरा लड़का कुमार्ग पर न जाय। लड़का कुमार्ग पर जाता है तो पिता को भी दुःख होता है। इसी कारण वह पुत्र को कठोर दंड देता है और सुधारने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अनाथ मुनि भी साधुओं को शिक्षा देते हैं।

राजीमती ने रथनेमि से कहा था—'हे अपयश कामी! तेरे लिए तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है।' तो क्या राजीमती को रथनेमि पर द्वेष था? डाक्टर रोगी के शरीर में चीरा लगाता है तो वह रोगी से प्रेम करता है या द्वेष करता है? डाक्टर कहता है—मैं रोगी को नहीं, रोग को चीरता हूँ, इसलिए कि रोगी पर मेरा करुणाभाव है।

अनाथ मुनि भी साधुओं पर करुणाभाव रख कर ही इस प्रकार शिक्षा देते हैं। किसी के प्रति उन्हें द्वेष नहीं। वे यही चाहते हैं कि साधुओं की आत्मा को सच्ची शान्ति का लाभ हो। साधु अनाथ मुनि की शिक्षा माने तो उनका भी कल्याण हो और साथ ही आप लोगों का भी कल्याण हो।

संयम ग्रहण करने के पश्चात् भी भोग लोलुपता साधु को स्वच्छंदचारी बना देती है। स्वच्छंदाचारी होकर वे उत्तम जिनमार्ग की विराधना कर डालते हैं। उस समय तो वे विचार नहीं करते, किन्तु जब मृत्यु मस्तक पर नाचने लगती है, तब सोच और पश्चात्ताप करते हैं। किन्तु अवसर निकल जाने पर पश्चाताप करने से क्या लाभ? संयम की विराधना करते समय ही उन्हें भविष्य का विचार करना चाहिए था कि मैं क्या करने

के लिए उद्यत हुआ था और क्या करने लगा हूँ। इसका फल क्या होगा? उस समय विचार नहीं किया, सांसारिक भोग और मानापमान आदि के आगे संयम का ध्यान नहीं रक्खा, और अब पश्चात्ताप किस काम का? इस प्रकार पश्चात्ताप का अवसर न आने देना ही बुद्धिमत्ता है। अनाथ मुनि साधुओं को चेतावनी देकर यही बतलाना चाहते हैं कि—'साधुओ! पहले से ही सावधान रहो। ऐसा काम न करो कि बाद में पश्चात्ताप करना पड़े।'

अनाथ मुनि की यह अपार करुणा है, द्वेष नहीं।

सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं,
अणुसासणं नाण गुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं,
महानियंठाण वए पहेणं ॥५१॥

अर्थ— हे मेधावी! ज्ञान गुण से युक्त इस सुभाषित शिक्षा को सुनकर और कुशीलों के मार्ग को त्याग कर महानिर्ग्रन्थों के पथ पर चलो।

व्याख्यानः— अनाथ मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं—राजन्! इस सुभाषित को, जिसका मैंने अभी तुम्हारे समक्ष वर्णन किया है, सुन कर तुम विचार करो। यह सुभाषित शिक्षा रूप है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप गुण से युक्त है। इसे सुन कर तुम कुशीलों के मार्ग को त्याग कर महा-निर्ग्रन्थों के मार्ग पर चलो।

अनाथ मुनि ने जो कुछ कहा है, उससे ऐसा जान पड़ता है, मानो राजा श्रेणिक साधु बन रहा हो। परन्तु वह साधु नहीं बन रहा था। फिर ऐसा कहने का कारण क्या है, यह यहाँ देखना है।

मुनि ने राजा को मेधावी कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि यह शिक्षा बुद्धिमान् को ही देनी चाहिए, बुद्धिहीन को नहीं। पर आज श्रेणिक जैसे बुद्धिमान् नहीं हैं तो क्या किया जाय? क्या किसी को शिक्षा न दी जाय?

बुद्धिमान् पुरुष दो प्रकार के माने जाते हैं। प्रथम वह, जो किसी बात को सुन कर उसी समय सत्यासत्य का निर्णय कर लेते हैं और दूसरे वह, जो उसी समय निर्णय नही कर सकते, फिर भी उनका प्रयत्न उसी दिशा में चालू रहता है। एक शिष्य और दूसरे शिक्षक में से किसे बुद्धिमान् कहना चाहिए? अगर दोनों में बुद्धि न हो तब तो शिष्य और शिक्षक का भेद ही नहीं होना चाहिए, और यदि दोनों समान बुद्धिमान् हों तो भी यह भेद नहीं होना चाहिए। अतएव यही मानना पडेगा कि बुद्धि तो दोनों में है, किन्तु एक में अधिक और दूसरे में थोडी है। जिसमें थोड़ी है वह अधिक बुद्धि प्राप्त करना चाहता है, और दूसरा उसे देना चाहता है। इस प्रकार जिसमें बुद्धि है वह तो बुद्धिमान् है ही, पर जो बुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वह भी बुद्धिमान् है। अगर आप किसी बात की सत्यता-असत्यता का निर्णय तत्काल न कर सके तो भी निर्णय करने की इच्छा अवश्य रक्खें और प्रयत्न भी करें। ऐसा करने से आप भी बुद्धिमान ही कहलाएंगे।

मैं आपको जो कुछ सुनाता हूँ सो यही समझ कर कि आप उसे सुन कर सत्यासत्य का निर्णय करने की बुद्धि प्रकट करेंगे। फिर भी अगर कोई मेरी बात न सुने या न माने तो उसकी इच्छा! इस कारण मुझे दुःख नहीं मानना चाहिए। हमें यह विचार भी नहीं आना चाहिए कि मैं कहता

हूँ पर यह लोग तो कान ही नहीं देते। इस प्रकार का विचार आना अपने ज्ञान को आप ही तुच्छ बनाना है। हा, हमें यह अवश्य देखना चाहिए कि यह शिक्षा बुद्धिमान् को ही दी जाय, बुद्धिहीन को नहीं। बुद्धिहीन को शिक्षा देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। कृषक भी बीज बोने से पहले देख लेता है कि यह भूमि उपजाऊ है या नहीं? भले उस भूमि में अन्न या घास न उगा हो, फिर भी वह यह तो देखता ही है कि यहाँ घास उगा है या नहीं? घास उगा हो तो कृषक को इतनी आशा तो रहती ही है कि इस भूमि में बोया बीज निरर्थक नहीं जाएगा। जिस भूमि पर घास भी न उगा हो, उसमें बीज बोने से भी क्या लाभ है?

इसी प्रकार धर्म शिक्षा देने के लिए भी हमें परिषद् को देखना चाहिए। श्रीनन्दी सूत्र में तीन प्रकार के श्रोता बतलाये गये हैं—(१) जाणिया (२) अजाणिया और (३) दुव्वियड्ढा शास्त्र में कहा है कि जानकार और अनजान श्रोताओं को उपदेश देना चाहिए; परन्तु दुर्विदग्धों—नासमझ होते हुए भी अपने को बहुत समझदार मानने वालों—के सामने चुप रहना ही अच्छा है।

'जाणिया, श्रोता वह कहलाता है जो थोड़ा कहते ही बहुत समझले। जैसे पानी में डाला हुआ तेल का बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार थोड़ा सुन कर बहुत समझ लेने वाला श्रोता 'जाणिया' कहलाता है। नासमझ श्रोता को 'अजाणिया' कहते हैं। इन दोनों में से किसे कैसा उपदेश देना चाहिए, इस बात का विचार करना भी आवश्यक है। अजाणिया श्रोताओं के सामने गम्भीर ज्ञान चर्चा की जाय तो वे उसे कैसे समझ सकते हैं? अतएव अज्ञ लोगों को ऐसी सरल शिक्षा देनी चाहिए कि बालक भी उसे समझ जाय। जानकार श्रोताओं के समक्ष तत्त्वज्ञान की चर्चा की जाय तो

वे तर्क और युक्ति द्वारा निर्णय कर सकते हैं; किन्तु अज्ञ श्रोता उसे नहीं समझ सकते और इस कारण गड़बड़ में पड़ जाते हैं।

अज्ञ परिषद् के सामने ऐसा चरित्रचित्रण नहीं करना चाहिए कि जिससे उनका चरित्र नष्ट हो जाय या उनके गृहस्थ जीवन में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित हो जाय।

साधु का उपदेश सुन कर कोई महिला कहने लगे—'अब मैं चूल्हा नहीं सुलगाऊँगी, चक्की नहीं चलाऊँगी, बच्चे को दूध नहीं पिलाऊँगी और घर–गृहस्थी का कोई भी काम नहीं करूँगी, क्योंकि इन सब कामों में पाप है।' इस महिला का कथन सुन कर आप लोग क्या कहेंगे? आप यही कहेंगे—'महाराज, आपका उपदेश सुन कर हमारी गृहिणी बिगड़ गई।'

इस महिला से कहा जाय कि तुझे काम नहीं करना है तो दीक्षा लेले। तब वह कहती है—नहीं मुझे दीक्षा नहीं लेनी है, परन्तु मैं घर का काम नहीं करूँगी। ऐसी महिला से यही कहा जा सकता है कि तू सर्व-प्रथम स्थूल हिंसा का त्याग कर तथा क्रोध, कलह आदि का त्याग कर। तू स्थूल हिंसा का त्याग करेगी तो भी तुझे धर्म ही होगा। घर में शान्ति से रहेगी, क्लेश–तकरार नहीं करेगी तो तेरे घर के लोग कहेंगे कि—'महाराज, आपका उपदेश सुन कर वह सुधर गई।' इस प्रकार घर के व्यवहार से ही साधुओं को प्रशंसा भी मिल सकती है और बदनामी भी मिल सकती है।

कहने का आशय यह है कि अजाणिया श्रोता के सामने ऐसा उपदेश देना उचित नहीं कि जिसे वह समझ न सके और उलटा गड़बड़ में पड़ जाय। बालकों और स्त्रियों के दिमाग में ऐसी बातें नहीं घुसेड़नी चाहिए, जिनसे उनमें और अधिक खराबी आ जाय। या वे भयमुक्त बनने के बदले

और ज्यादा भयग्रस्त हो जाएँ ! बालकों और स्त्रियों के समक्ष भूत–चुडैल की बात की जाय तो वे विश्वास करने लगेंगे कि वास्तव में भूत–चुडैल होते हैं, क्योंकि दिन में शास्त्र में भी उनकी बात चली थी। इस प्रकार भूत–चुड़ैल की बातें करने से बालकों और स्त्रियों के हृदय में अधिक भय उत्पन्न हो उठता है। उन्हें तो निर्भय बनाने वाली बातें कहनी चाहिए, जैसे—नमस्कारमंत्र में चौदह पूर्वों से भी बढ कर शक्ति है। उसका जाप करने से किसी भी प्रकार का भय नहीं रह जाता।

गांधीजी लिखते हैं कि—मेरी धाय माता ने मुझे शिक्षा दी थी कि राम का नाम जपने से भूत आदि का भय नहीं लगता। इस शिक्षा के कारण मुझे कभी भूत-प्रेत का भय नहीं लगा। आप विचार कीजिए कि राम का नाम बड़ा या नमस्कार मंत्र बड़ा ? आप कहने को तो कह देंगे कि नमस्कार मन्त्र बड़ा है, पर ऐसा विश्वास है या नहीं ? किसी साठ वर्ष के वृद्ध को श्मशान में जाने के लिए कहा जाय तो क्या वह जाने को तैयार होगा ? इसके विपरीत, सुना जाता है कि जापान के पाँच वर्ष के बालक के हाथ में तलवार या बन्दूक देकर श्मशान में जाने को कहा जाय तो वह बेधड़क चला जायगा। हमारे यहा लोगों के हृदय में भय घुसा हुआ है। अतएव उन्हें ऐसी शिक्षा नहीं देनी चाहिए कि जिससे भय की वृद्धि हो, उन्हें तो भय दूर करने की ही शिक्षा देनी चाहिए।

इस युग में जाणिया-परिषद् कम और अजाणिया-परिषद् ज्यादा है। अतएव हमें उपदेश देने में सावधानी बरतनी चाहिए।

कदाचित् कहा जाय कि अमुक बाई का अमुक काम देवी के पास जाने से पूरा हो गया, किन्तु देवी में शक्ति है तो क्या नमस्कारमन्त्र में शक्ति नहीं है ? नमस्कारमन्त्र की शक्ति के विषय में कहा गया है:—

कृष्ण भुजङ्ग को घाल्यो रे घट में, दियो मारण को हार।
नाग पीठ भई फूल की माला, मन्त्र जप्यो नवकार॥

नमस्कारमन्त्र की अलौकिक शक्ति के विषय में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। कहा जा सकता है कि यह उदाहरण पुराने हैं और नवीन उदाहरण इसके विरुद्ध मिलते हैं। परन्तु इस विषय में मैं अपने अनुभव की बात बतलाता हूँ। बचपन में मैं भूत प्रेत से बहुत डरता था परन्तु जब से मुझ में यह दृढता आई कि णमोकारमन्त्र से भूत भाग जाते हैं, तभी से मेरा यह भय दूर हो गया। इसी प्रकार आप भी णमोकारमन्त्र पर दृढ विश्वास रक्खो तो भूत-प्रेत का कोई भय रह ही नहीं सकता।

इस विषय में साध्वियों पर अधिक उत्तरदायित्व है, क्योंकि महिलाओं का आना जाना उन्हीं के पास अधिक होता है। स्त्रियों में ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए और उन्हें ऐसी शिक्षा नहीं मिलनी चाहिए कि आज काली चौदस है, अतएव इस मन्त्र का जाप करने से ऐसा होगा; अथवा अमुक मन्त्र का जाप करने से यह काम बन जाएगा।

कुछ लोग साधु होकर भी इस प्रकार की शिक्षा देते हैं। इसी कारण अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! तुम महानिर्ग्रन्थ के मार्ग पर चलो। महा-निर्ग्रन्थों के मार्ग पर एक तो श्रद्धा रूप से चला जा सकता है और दूसरे स्पर्शना रूप से चला जा सकता है। स्पर्शना रूप से न चला जाय तो बात अलग है, परन्तु जो श्रद्धा रूप से भी नहीं चलता, उसका पतन हो जाता है। क्या आपने किसी निर्ग्रन्थ को मंत्र तंत्र बतलाते देखा है? सच्चे निर्ग्रन्थ कभी मंत्र-तंत्र के चक्कर में नहीं पड़ते। ऐसी किसी स्थिति में मंत्र-तंत्र में पड़ना कुशीलों के मार्ग पर चलना है इस तथ्य को ध्यान में रखकर कुशीलों के मार्ग पर न चलो और निर्ग्रन्थ के मार्ग पर चलो,

इसी में आपका कल्याण है।

महानिर्ग्रन्थों के मार्ग पर चले बिना सच्ची शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिए आपको विवेक या भेद विज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सोचना चाहिए कि आप शरीर के हैं या शरीर आपका है? अगर आप मानते हैं कि शरीर हमारा नहीं और हम शरीर के नहीं, तब तो ठीक ही है, किन्तु यदि यह मानते हो कि शरीर हमारा है और हम शरीर के नहीं हैं, तो भी काम चल सकता है। ऐसी दशा में यह नहीं होना चाहिए कि शरीर के रोगी होने से आप अपने को रोगी समझें और शरीर के स्वस्थ होने से अपने को स्वस्थ समझलें। अगर अपने शरीर की रुग्णता में और स्वस्थता में अपने को रुग्ण और स्वस्थ समझा तो आप शरीर के हुए या शरीर आपका हुआ?

अनाथ मुनि कहते हैं—जब तक मैं शरीर को अपना मान रहा था, तब तक दुःख भोग रहा था, परन्तु जब मुझे शरीर एव आत्मा के पार्थक्य की प्रतीति हुई और मैं समझने लगा कि मै शरीर नहीं वरन् शरीर मेरा है, तब शरीर के सारे रोग चले गये। अगर आप शरीर के अधीन हो जाओगे तो बहुत कष्ट पाओगे। किन्तु शरीर को अपने अधीन कर लोगे तो आपका खाना, पीना, देखना, सुनना आदि सभी कुछ निराले ही प्रकार का हो जाएगा। फिर कोई भी दु.ख नहीं व्यापेगा। साथ ही इन्द्रियों के अधीन होने के कारण जो नहीं खाने योग्य खाया जाता है, नहीं देखने योग्य देखा जाता है, न सुनने योग्य सुना जाता है, वह सब खाना, देखना और सुनना बन्द हो जायगा। उदाहरणार्थ—नाटक या सिनेमा देखने योग्य नहीं है। सिनेमा देखनेवाला न घर का रहता है न घाट का। उसकी स्त्री सिनेमा की नटी के समान तो नहीं होती, अतएव उसे वह राक्षसी

जैसी दिखाई देने लगती है। और सिनेमा की नटी उसे मिलती नहीं है। इस प्रकार वह किधर का भी नहीं रहता। इस प्रकार शरीर के अधीन हो जाने से अदर्शनीय भी देखा जाता है, पर जो शरीर को अपने वश में कर लेता है, उसकी स्थिति ऐसी नहीं होती।

अनाथ मुनि कहते हैं राजन्! जो साधु होकर भी शरीर का गुलाम बन जाता है, वह अनाथ है, वह कुशील है। हे राजन्। तुम कुशीलों के मार्ग को छोड़कर महानिर्ग्रन्थों के मार्ग पर चलो। मत समझो कि तुम्हें जो शिक्षा दी गई है, वह साधुओं के लिए ही हितकारी है। तुम इस शिक्षा को अपने कल्याण के लिए भी मानो और कुशीलों के मार्ग को त्याग दो। इसी मे तुम्हारा हित है।

कोई कुशीलों को त्याग दे पर कुशीलों के मार्ग को न त्यागे तो इससे कोई लाभ नहीं होता। लाभ तो उनके मार्ग को त्याग देने से ही हो सकता है। जो वस्तु जिस काम के लिए मिली है, उसका विपरीत कार्य में उपयोग करना कुशीलों का मार्ग है और ऐसा करनेवाला कुशील कहलाता है। उदाहरणार्थ—वस्त्र लज्जा-निवारण के लिए पहने जाते हैं, किन्तु वस्त्र धारण करके अगर दूसरों की लाज लूटी गई तो वह कुशीलपन है। पृथ्वी सब को आधार देती है, किन्तु जो पृथ्वी का आधार लेकर दूसरों को निराधार बनाता है, वह कुशील है। जो भोजन-पानी तुम्हारी भूख-प्यास मिटाता है, वही भोजन पानी खा—पीकर दूसरों को भोजन-पानी से वञ्चित रखना, दूसरों का भोजन-पानी छीन लेना कुशीलपन है। इस प्रकार जो वस्तु जिस उपयोग के लिए मिली है, उसका दुरुपयोग करना कुशीलता है। इसी प्रकार जिस वेष को इन्द्र भी नमस्कार करता है और और जो वेष संयम का पालन करने के लिए है, उसी वेश को धारण

करके विपरीत कार्य करना कुशील का लक्षण है।

अनाथ मुनि कहते हैं—कुशीलों का तो त्याग करना ही चाहिए, साथ ही उनके मार्ग का भी त्याग करना चाहिए अर्थात् जिस कारण वे कुशील कहलाते हैं, उस कारण का भी त्याग करना चाहिए। उन अवगुणों का भी त्याग करना चाहिए। यद्यपि साधु और गृहस्थ—दोनों के मार्ग पृथक्-पृथक् हैं, तथापि गृहस्थों में जो कुशील का मार्ग हो उसे गृहस्थों को त्यागना चाहिए और साधुओं में जो कुशील का मार्ग हो उसे साधुओं को त्यागना चाहिए। राजन्! अगर तुम कुशीलों के मार्ग का त्याग न करोगे तो कुशीलों के प्रति घृणा भी न कर सकोगे और उनकी संगति भी न छोड़ सकोगे।

मुनि फिर कहते हैं—मगधेश! तुम राजा हो। प्रजा की रक्षा के लिए तुम राजा हुए हो। राजा होकर जो गरीबों के धन-प्राण का अपहरण करता है और गरीब प्रजा को दुःख देता है, वह कुशील है। कुशील राजा गरीब प्रजा की रक्षा से विमुख होकर उसका धन हरण कर लेता है! जो प्रजाजन उसे राजा मानते हैं और नमन करते हैं, उनकी रक्षा का भार उस राजा के कंधों पर है। परन्तु जो राजा अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता, वह कुशीलों के मार्ग पर है, ऐसा समझना चाहिए।

भवभूति कवि ने राम के मुख से कहलाया है—'हे लक्ष्मण! मैं नाम का ही राजा नहीं हूँ, सच्चा राजा हूँ। मेरे ऊपर प्रजा की रक्षा का भार है। अतएव प्रजा के हित के लिए अगर तेरे जैसे भाई का भी त्याग करना पड़े तो मैं कर सकता हूँ।'

ऐसे राजा को कौन न चाहेगा? ऐसा राजा हो तो स्वराज्य का प्रश्न ही उपस्थित क्यों होता? किन्तु राजा लोग अपने उत्तरदायित्व को भूल गये

और कुशीलों के मार्गगामी हो गए, तब स्वराज्य की माँग हुई और काले झंडे दिखला कर उन्हें धिक्कार दिया गया।

यह तो राजाओं की बात हुई। आप अपने विषय में भी विचार करो कि आपके लिए कौनसा कुशीलों का मार्ग त्याज्य है? आपने विवाह के समय क्या प्रतिज्ञा की थी और इस समय किस मार्ग पर चल रहे हो? क्या तुम पिता के साथ योग्य पुत्र सरीखा, माता के साथ योग्य सन्तान जैसा, भाई-बहिन के साथ योग्य भाई जैसा, पत्नी के साथ योग्य पति और नौकर के साथ योग्य स्वामी जैसा व्यवहार रखते हो? अगर नहीं रखते तो क्या कुशीलों के मार्ग पर नहीं जा रहे हो? आप धनवान् बने हैं, परन्तु जिन गरीबों के धन से धनवान् बने हो, उन गरीबों का ध्यान रखते हो? कलम-दवात की पूजा किसलिए करते हो? उनकी पूजा करके भी अगर उनका दुरुपयोग किया तो क्या यह कुशीलों के मार्ग पर चलना नहीं है? आप भारतीय हैं, इसी भारत में जन्मे हैं, यहीं पले हैं और यहीं के परमाणुओं से आपका शरीर बना है, फिर भी अगर आप यहाँ के खान-पान और रहन-सहन को पसंद नहीं करते और विदेशी भोजन-पान एवं वस्त्रभूषा को अपना कर भारत को कलंकित करते हैं तो क्या यह कुशीलों के मार्ग पर जाने जैसा काम नहीं?

आप कहते हैं कि हम महानिर्ग्रन्थ के भक्त हैं; किन्तु जो महानिर्ग्रन्थ भगवान् महावीर के सच्चे शिष्य होंगे, वे कुशीलों के मार्ग पर नहीं चलेंगे और भगवान् के ही मार्ग पर चलेंगे।

चरित्तमायार गुणन्निए तओ,
अणुत्तरं संजयं पालिया णं।

निरासए संखवियाणं कम्मं,
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥५२॥

अर्थ—जो कुशीलों के मार्ग का त्याग करेंगे वे चारित्र के आचार-गुणों से युक्त होकर अनुत्तर—यथाख्यात संयम का पालन करेंगे और निरास्रव (या निराशय-निष्काम) होकर, कर्मों का क्षय करके उत्तम एवं ध्रुव स्थान-मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

व्याख्यानः—देखना है कि चारित्र, आचार और गुण किसे कहना चाहिए ? जो वस्तु जिस आचार का पालन करने से ही प्राप्त हो सकती है, उसी का पालन करने से वह प्राप्त होगी। चारित्र की प्राप्ति पाँच प्रकार के आचार के पालन से ही हो सकती है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार, यह पाँच आचार हैं। इन पाँचों का यथावत् पालन करने से ही अनुत्तर चारित्र का पालन होता है। जिसका आचरण किया जाय, जिसे अमल में लाया जाय, वह आचार कहलाता है। जैसे ज्ञान को व्यवहार में लाना, अर्थात् ज्ञान के अनुसार ही आचरण करना ज्ञानाचार कहलाता है। ज्ञान थोड़ा ही क्यों न हो, किन्तु उसके अनुसार व्यवहार करने वाला ज्ञानाचार का आराधक कहलाता है। इसके विपरीत जिसमें ज्ञान की मात्रा तो विपुल है किन्तु जो उसे व्यवहार में नहीं लाता, भगवान् उसे आराधक नहीं, विराधक कहते हैं।

श्रीभगवती सूत्र में भगवान् ने तीन प्रकार की आराधना बतलाई है—ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चारित्र की आराधना। इस आराधना के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य, इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। स्वल्प ज्ञानवान् भी अगर ज्ञान के अनुसार व्यवहार करता है, ज्ञान का

बहुमान करता है तो वह ज्ञान का आराधक है। परन्तु उत्कृष्ट ज्ञान होते हुए भी जो ज्ञानानुसार ज्ञान का बहुमान नहीं करता, वह विराधक है।

चारित्र में ज्ञान और दर्शन दोनों का समावेश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो चारित्राचार में सहायता पहुँचाने वाले ज्ञान आदि गुणों के साथ उत्कृष्ट संयम का पालन करता है, वही कुशीलों के मार्ग से अलग रहता है, वही महानिर्ग्रन्थों के महामार्ग पर चल सकता है और वही विपुल, उत्तम और ध्रुव स्थान-मोक्ष को पा सकता है। यही चारित्र का फल है। भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है:—

प्रश्न—संजमेणं अज्जो! किं फलं?

अर्थात्—हे आर्य, संयम का क्या फल है?

प्रश्न—तवेण अज्जो! किं फलं?

अर्थात्—आर्य, तप का क्या फल है?

उत्तर—संजमेणं अज्जो अनासवफलं, तवेण अज्जो वोदानफलं।

अर्थात्—हे आर्य! संयम का फल अनास्रव है और तप का फल पूर्वकर्मों को नष्ट करना है।

जब संयम के द्वारा नवीन कर्मों का बंध रोक दिया जाता है और तप द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों को नष्ट कर दिया जाता है, तब मोक्ष के सिवाय और क्या हो सकता है? इस स्थिति में मोक्ष ही मिलता है। भगवान् ने यही मार्ग बतलाया है। इस कथन के अनुसार संयम से मोक्ष ही मिलना चाहिए; किन्तु साधु स्वर्ग में भी जाते हैं। इसका क्या कारण है? पहले के श्रावकों ने स्थविरों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया। स्थविरों ने इस प्रश्न पर खूब विचार किया है, और किसी ने कुछ तथा किसी ने कुछ उत्तर दिया है, किन्तु सबका सार यही है कि संयम में उत्कृष्ट पराक्रम करने का

फल तो मोक्ष ही है, किन्तु जब यह नहीं होता तब साधु स्वर्ग—देवभूमि में विश्राम करके मोक्ष जाते हैं।

कल्पना करो—दो आदमी बम्बई के लिए रवाना हुए। एक के पास चुस्त घोड़ा है और दूसरे के पास वैसा नहीं है? पहला यात्री मार्ग में रुके बिना सीधा बम्बई पहुँच गया और दूसरा रास्ते में ठहरता-ठहरता बम्बई पहुँचा, उसे मार्ग में विश्राम लेना पड़ा। शक्ति न होने पर रास्ते में विश्राम लेना ही पड़ता है, फिर भी है तो वह बम्बई का ही यात्री।

इसी प्रकार भगवान् का मार्ग मुक्ति का ही मार्ग है और उपदेश भी मुक्ति का ही है। उन्होंने स्वर्ग के लिए उपदेश नहीं दिया। फिर भी कई साधु सीधे मोक्ष में न जाकर इसलिए स्वर्ग में जाते हैं, क्योंकि उनमें सरागता रह जाती है, पूर्ण वीतरागता नहीं आ पाती। उस सराग अवस्था में शुभ योग होता है और उसके निमित्त से शुभ बंध होता है। इस प्रकार संयम पालन के फल स्वरूप नहीं, किन्तु राग रह जाने के कारण वे स्वर्ग में जाते हैं। फिर भी वह राग अवनतिकारक नहीं वरन् उन्नतिकारक ही होता है।

साधन में अन्तर होने से साध्य (फल) में भी अन्तर पड़ जाता है। पातञ्जल योगदर्शन में कहा है कि वीतराग का ध्यान करने से योग की सिद्धि होती है। किन्तु सब लोगों में ऐसा करने की क्षमता नहीं होती, अतएव वीतराग के ध्यान के भी भेदोपभेद किये गये हैं, जैसे कि जैनशास्त्र में चारित्र के आराधना आदि ८१ भेद किये गये हैं। जो जिस भेद से साधन का उपयोग करता है, उसकी सिद्धि में भी उसी प्रकार का अन्तर पड़ जाता है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! जब आत्मा कुशीलों का मार्ग त्याग

कर उत्कृष्ट संयम का पालन करता है, तब उसमें तनिक भी आस्रव नहीं रह जाता। ईर्यापथिका क्रिया भी तेरहवें गुणस्थान तक ही रहती है। चौदहवें गुणस्थान मे पहुँचने पर वह भी छूट जाती है; तब आत्मा अत्युत्तम (विपुल, उत्तम) और ध्रुव स्थान–मुक्ति प्राप्त करता है। अर्थात् सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है।

मुक्ति विपुल, उत्तम और ध्रुव कही गई है। इसका क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुक्ति का क्षेत्र ४५ लाख योजन का अनादिकाल से है और यह ससार भी अनादिकाल से है! कहा जा सकता है कि संसार पहले या सिद्धि पहले है? जो सिद्ध हुए हैं, संसार में से ही मुक्त हुए हैं। अतएव पहले ससार और बाद मे मुक्ति होनी चाहिए। परन्तु नहीं, शास्त्र कहता है कि संसार और मोक्ष दोनों अनादि कालीन हैं। इनमें आगे-पीछे का कोई क्रम नहीं है।

कहना यह है कि मुक्ति का स्थान ४५ लाख योजन का ही है और अनन्त जीव उसमे जा चुके हैं, जा रहे हैं और जाएँगे। फिर भी वह स्थान छोटा नहीं पड़ता। क्यों वह छोटा नहीं पड़ता, उसके लिए एक उदाहरण लो। किसी मकान मे एक दीपक का प्रकाश फैला है। बाद में उसी मकान में दस, पचास या हजारों दीपकों का प्रकाश किया जाय तो क्या उन दीपकों के प्रकाश को जगह की कमी पडेगी? नहीं, सूर्य के प्रकाश को भी उसमें स्थान की कमी नहीं पड़ सकती। यही बात मुक्ति स्थान के विषय में समझी जा सकती है। मुक्ति स्थान यद्यपि ४५ लाख योजन परिमित ही है, तथापि उसमें कितने ही मुक्ति जीव क्यों न चले जाएँ, स्थान की कोताई नहीं हो सकती। इसी कारण यह स्थान विपुल कहा गया है।

अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से कहा—राजन्! कुशीलो के मार्ग का

त्याग करके तू महानिर्ग्रन्थों के मार्ग पर चल। पर प्रश्न यह है कि राजा साधु नहीं था और हो भी नहीं रहा था, फिर मुनि ने उसे ऐसा क्यों कहा ? उसे ऐसा उपदेश देने से क्या लाभ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह उपदेश अगर साधुओं के लिए ही हितकर होता और गृहस्थों के लिए हितकर न होता तो मुनि, राजा को हर्गिज यह उपदेश न देते। यह उपदेश तो साधुओं और गृहस्थों को समान रूप से उपयोगी है। जो मोक्ष का इच्छुक है, वह मोक्ष की साधना चाहे थोडी मात्रा में ही करे, परन्तु होनी चाहिए वह सही दिशा में। उसका साधन ठीक होना चाहिए, उलटा नहीं। जैसे सीधा पकड़ा हुआ शस्त्र स्वरक्षा का साधन बन सकता है, किन्तु उसी शस्त्र को अगर उलटा पकड़ लिया जाय तो वह स्वघातक बन जाता है। इसी प्रकार मोक्ष की साधना के लिए चाहे थोड़ा पराक्रम किया जाय, परन्तु वह विपरीत नहीं होना चाहिए, भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही होना चाहिए। ऐसा होने पर आज वह जिस स्थिति पर है, उससे आगे बढ़ सकेगा, पीछे नहीं हटेगा। अतएव आपको भी सोचना चाहिए कि हम कुशीलों के मार्ग पर न चलेंगे तो हमारा गृहस्थाश्रम बिगडेगा नहीं, वरन् सुधर जाएगा।

कुछ लोग कहते हैं—अगर हम कुशीलों का मार्ग त्याग देंगे तो हमें भूखा मरना पडेगा। हम गृहस्थ हैं और इस जमाने में चालबाजी किये बिना पेट भरना भी कठिन है। सीधे पेड़ को लोग काट डालते हैं, पर बाँके को कोई नहीं काटता। ऐसी स्थिति में कुशीलों के मार्ग को कैसे त्यागा जा सकता है ? कहावत है—

रोटी खाना शक्कर से, दुनियाँ ठगना मक्कर से।

यह छल-कपट का युग है और छल-कपट किये बिना भरणपोषण भी नहीं हो सकता।

इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है—अगर तुम लोग विवेक को तिलाजलि न दे दो तो इस प्रकार का विचार ही नहीं आसकता। अदृश्य शक्ति पर श्रद्धा रक्खो और धर्म के बल को स्वीकार करो तो यह प्रश्न ही उपस्थित न हो! आखिर तो संसार का काम सरलता एवं सचाई से ही चल सकता है! उदाहरणार्थ—पाँच और पाँच दस होते हैं। पर कोई कहे कि इस जमाने में सचाई से काम नही चल सकता, अतएव पाँच और पाँच दस न बतला कर ग्यारह बतलाने चाहिए। क्या ऐसा करना आप ठीक कहेंगे? क्या पाठशालाओं में ऐसी शिक्षा दी जाती है? भाई, ससार का व्यवहार सच्चे गणित से ही चलता है, झूठे गणित से नहीं। ज्योतिष के गणित में थोड़ी-सी भूल हो जाय तो सारा फलादेश ही मिथ्या हो जाता है। संसार में भले असत्य का प्रयोग होता हो, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि संसार का काम असत्य गणित या असत्य काम से ही चलता है! इसी प्रकार यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है कि संसार का काम कुशीलों के मार्ग पर चलने से ही चल सकता है! आज आप सत्य और सरलता के व्यवहार में भले कष्ट मानते हों, पर याद रक्खो, सत्य और सरलता के व्यवहार से आत्मा को कदापि हानि नहीं होती। यही नहीं, सचाई तो यह है कि सत्य और सरलता के व्यवहार से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

राजा श्रेणिक साधु नहीं था, परन्तु मुक्ति का अभिलाषी तो था ही। आत्मा को मुक्तिधाम में पहुँचे बिना शान्ति नहीं मिल सकती। अतएव सब को मुक्ति की ही अभिलाषा रखनी चाहिए। इस भव में मुक्त न हो सकोगे तो भी अगर मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न चालू रहा और मुक्ति की ही ओर गति रही तो परभव में वह मिलेगी ही। शास्त्र में कहा है—

कडमाणे कडे, चलमाणे चलिए।

अर्थात्—जिस कार्य को प्रारम्भ कर दिया गया है, उसे पूरा हुआ ही समझो। जिसने चलना आरम्भ कर दिया, उसे पहुँचा हुआ समझो।

मान लीजिए, एक आदमी बम्बई पहुँच गया है और दूसरा वहाँ पहुँचने के लिए रवाना हुआ है। जो रवाना हुआ है, उसके लिए बम्बई अभी दूर है। फिर भी उन दोनों के विषय में पूछने पर यही उत्तर दिया जाता है कि वह बम्बई गये हैं।

शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन प्रकाश कम होता है और कृष्ण पक्ष की द्वितीया के दिन ज्यादा। फिर भी एक को शुक्ल पक्ष और दूसरे को कृष्ण पक्ष इस कारण कहते हैं कि एक में प्रकाश की वृद्धि हो रही है, वह प्रकाश के सन्मुख है, दूसरा यद्यपि अधिक प्रकाश युक्त है, तथापि उसका प्रकाश क्षयोन्मुख है, उसमें न्यूनता आ रही है।

अनाथ मुनि इसी बात को दृष्टि में रख कर कहते हैं—भले एक ही डग रक्खो, मगर रक्खो महानिर्ग्रन्थ के मार्ग पर ही। ऐसा करने पर तुम्हारे विषय में यही कहा जायगा कि तुम मुक्ति के मार्ग पर ही चल रहे हो।

इस प्रकार अनाथ मुनि ने यद्यपि यह बात सभी के लिए कही है, तथापि गृहस्थों की अपेक्षा हम साधुओं पर इस बात की अधिक जिम्मेवारी है। हमने धर्म के लिए ही सिर मुँडाया है और तुम्हारा और हमारा जो सम्बन्ध है, वह धर्म के कारण ही है। फिर भी किन्हीं-किन्हीं साधुओं और गृहस्थों का सम्बन्ध संसार के लिए बन जाता है। अतः इस विषय में साधुओं को विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है।

अनाथ मुनि ने जो कुछ कहा है, उसका सार यही है कि ज्ञान और क्रिया दोनों को जीवन में उतारना चाहिए। कुछ लोग सिर्फ ज्ञान को

और कुछ लोग सिर्फ क्रिया मानते हैं, किन्तु जैन शास्त्र ज्ञान और क्रिया-दोनो के समन्वय की आवश्यकता पर बल देते हैं। दोनों के समन्वय से ही कल्याण हो सकता है। ज्ञानशून्य क्रिया अन्धी है और क्रियाशून्य ज्ञान पगु है। पगु देख सकता है, चल नहीं सकता और अन्धा चल सकता है, देख नहीं सकता। दोनों एक दूसरे की सहायता से काम करें तो दोनो यथेष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं। एक उदाहरण लीजिए:—

मान लीजिए, किसी संघ ने जंगल में पड़ाव डाला। उस संघ में एक अन्धा और एक पंगु था। रात्रि के समय सघ के दूसरे लोग तो उठकर चले गये, अंधा और पंगु दोनों रह गये। जंगल भयानक था और उन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई आदमी वहाँ नहीं था। सवेरे उठकर पंगु ने देखा, सब लोग चल दिये हैं और हम दो ही यहाँ रह गये हैं। उसने अंधे को सारी परिस्थिति कह सुनाई और पूछा—अब क्या करना चाहिए? अगर हम यहीं रह गये तो जंगली जानवर फाड़ कर खा जाएँगे। साथी लोग जिस मार्ग से गये हैं, उसे मैं देख तो सकता हूँ, परन्तु चल नहीं सकता। तब अंधे ने कहा—भाई, मैं चल सकता हूँ, किन्तु देख नहीं सकता।

ऐसे अवसर पर अगर दोनों सहयोग न करें तो वहीं रह जाएँ और जंगली जानवरों के शिकार हो जाएँ। अतएव दोनों ने मिलकर विचार किया—हम में से एक मे चलने की शक्ति है और एक मे देखने की। इन दोनों शक्तियों का समन्वय करके हमें जगल से बाहर निकल जाना चाहिए। इस प्रकार विचार कर अंधे ने लँगड़े को अपने कंधे पर बिठा लिया और लँगड़ा उसे मार्ग बतलाने लगा। दोनों को एक ही जगह जाना था, अतएव दोनों अपनी २ शक्ति का समन्वय करके यथेष्ट जगह जा पहुचे।

ज्ञान और क्रिया के विषय में भी यही बात है कोई कहता है—ज्ञान

हो तो क्रिया की क्या आवश्यकता है ? और कोई कहता है—बड़बड़ करने और ज्ञान प्राप्त करने से क्या लाभ है ? हमें तो क्रिया ही करनी चाहिए। यद्यपि लक्ष्य दोनों का एक ही है—आत्मा का कल्याण करना, किन्तु दोनों में मेल न होने से—केवल एक शक्ति होने के कारण, दोनों में से एक भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। लक्ष्य की प्राप्ति तो दोनों के समन्वय से ही हो सकती है। शास्त्र कहता है—क्रिया का निषेध करने वाला ज्ञान, ज्ञान नहीं अज्ञान है, और बिना ज्ञान के की जाने वाली क्रिया भी निरर्थक है। लाभ तो तभी हो सकता है जब ज्ञान के साथ क्रिया की जाय।

व्यवहार में भी ज्ञान और क्रिया—दोनों की आवश्यकता होती है। किसी को स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो वह अकेले ज्ञान या अकेली क्रिया से प्राप्त न होगी, दोनों के समन्वय से ही प्राप्त हो सकेगी। किसी को कड़कड़ाती भूख लगी है और भोजन करना है; परन्तु भोजन के ज्ञान और क्रिया के बिना भूख कैसे मिट सकती है ? ज्ञानपूर्वक भोजन करने से ही भूख मिट सकती है ? भोजन मुख से ही किया जा सकता है, कान से नहीं, यह ज्ञान होने पर ही भोजन किया जा सकता है।

मुँह से भोजन किया जाता है, यह ज्ञान तो आप सब को है, किन्तु यह ज्ञान भी होना चाहिए कि किया जाने वाला भोजन पथ्य है या अपथ्य है ? अपथ्य भोजन करने वाले परिणाम में रोगी और दुःखी होते हैं। इस प्रकार व्यवहार में भी ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता है। एक से काम नहीं चल सकता। ज्ञान के अभाव में की जाने वाली क्रिया हानिकारक सिद्ध होती है, साथ ही क्रियाहीन ज्ञान तोता रटन्त मात्र होता है। एक आदमी ने तोते को सिखलाया कि—'बिल्ली से बचना चाहिए।' एक बार बिल्ली आई। तोता वही रटता रहा—'बिल्ली से बचना चाहिए।'

उसने बचाव के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। लोगों ने उससे कहा---मूर्ख तोते! तेरा यह उपदेश किस समय काम आएगा? बिल्ली ने तोता को घर दबोचा, पर तोता अन्त तक वही पाठ रटता रहा! इस प्रकार तोता यह तो जानता था कि बिल्ली से बचना चाहिए, परन्तु उसका ज्ञान सक्रिय न होने से कुछ भी काम न आया। वह निष्फल हुआ।

आज की शिक्षा भी तोता-रटन्त जैसी ही है। जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं उसे अपनी मानना और जिस वस्तु को स्वयं नहीं बना सकते उसे प्राप्त करके अभिमान करना और जीवन को परतंत्र बना लेना तोता-रटन्त के समान ज्ञान का ही परिणाम है। उदाहरण के लिए---आप जो पगड़ी पहनते हैं, उसके बनाने में आपने क्या किया है? आपने बुनी या रंगी है? आप जो धोती पहनते हैं, कभी आपने वह बनाई भी है? नहीं बनाई तो उसे पहन कर कैसे अभिमान कर सकते हो?

आज सुना, अब एक ऐसी मशीन ईजाद हुई है जो एक हाथ लंबा करने से कोट की एक बाँह पहना देती है और दूसरा हाथ लम्बा करने से दूसरी बाँह! इस प्रकार मशीन कोट पहना देती है। मान लीजिए कि इसी प्रकार धोती पहनाने वाली मशीन का भी आविष्कार हो सकता है। लेकिन इस स्थिति में आप स्वतन्त्र बने अथवा परतंत्र? आप अपनी लज्जा रखने में भी परतंत्र तो नहीं हो गये? मशीन धोती पहना दे तो आप अपने हाथ से पहनने का कष्ट क्यों करेंगे? लेकिन कभी बाजार में धोती खुल जाय तो क्या करोगे? इस प्रकार जिस वस्तु के कारण तुम परतन्त्र हो, उसे पाकर अभिमान क्यों करते हो? इस मिथ्या अभिमान के कारण ही लोग पराधीन और पतित बने हैं!

शास्त्र बतलाता है कि श्रेणिक राजा के पुत्र ने और पालित श्रावक के

पुत्र ने ७२ कलाओं की शिक्षा प्राप्त की थी। आप कह सकते हैं कि श्रेणिक के पुत्र ने राज्य करने के लिए ७२ कलाएँ सीखी होंगी, परन्तु पालित श्रावक के पुत्र को कौन-सा राज्य करना था? फिर उसे क्यों ७२ कलाएँ सिखलाई गई? पालित श्रावक था और निर्ग्रन्थ प्रवचन का ज्ञाता था। फिर भी उसने अपने पुत्र को राजकुमार की तरह ७२ कलाएँ सिखलाई थीं। मेरे विचार से इसका प्रयोजन यही हो सकता है कि जीवन को परतंत्र न बना कर स्वतन्त्र बनाना चाहिए। परतन्त्रता से जीवन दुःखमय बनता है; जीवन का सुख स्वाधीनता में ही है। कौन-सी ऐसी जीवनोपयोगी वस्तु है, जिसका ७२ कलाओं में समावेश न हो जाता हो? घर, वस्त्र, भोजन आदि सभी कार्य ७२ कलाओं मे अन्तर्गत हो जाते हैं। आज इन सब वस्तुओ का उपयोग तो किया जा जाता है, पर इन्हे बनाया कैसे जाता है, इस बात का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जाता। इसी से जीवन परतन्त्र बन रहा है। परतंत्र होकर भी लोग अभिमान करते हैं और इस अभिमान की बदौलत ही लोग पतित हो रहे हैं।

कहा जा सकता है कि हम पुण्यवान् हैं, पुण्योपार्जन करके आये हैं, अतएव तैयार वस्तुएँ खाते हैं, पहनते हैं और आनन्द करते हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि पराधीन लोग पुण्यवान् हैं या जो पराधीन नहीं, स्वाधीन हैं, वे पुण्यवान् हैं? पुण्य क्या पराधीन बनाने वाला है? वास्तव में पराधीनता भुगतना और अपने आपको पुण्यवान समझ कर अभिमान करना भूल है।

आज लोग सम्यग्ज्ञान की बातें तो करते हैं, मगर यह नहीं देखते कि वे सम्यग्ज्ञान से किस प्रकार दूर-दूर जा रहे हैं! अपनी अशक्तता के कारण दूसरों से सहायता लेना और फिर सहायता देने वालों को पापी और अपने

आपको पुण्यवान् कहना किसी भी दृष्टि से योग्य नहीं कहा जा सकता। मेरे लिए उचित तो यह है कि अपनी अशक्ति के कारण मुनियों से मैं जो सहायता लेता हूँ, उसके लिए उन्हें धन्यवाद दूं और अपने लिए पश्चात्ताप करूँ कि मुझमें क्यों यह अशक्तता आ गई ? मुझे मुनियों से कहना चाहिए कि आप लोग मुझ जैसे अशक्त की इस प्रकार सेवा करके भगवान् की आज्ञा का पालन कर रहे हैं और भगवान् के निकट पहुँच रहे हैं। मैं अपना निज का भी काम करने में असमर्थ हूँ' अतएव मुझे अपनी अशक्तता के लिए खेद है।

इस प्रकार अपनी अशक्तता के लिए पश्चात्ताप करना तो उचित है परन्तु पश्चाताप के बदले अभिमान करना और दूसरो को हीन मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

जो लोग पाखाने में शौच जाते हैं, वे अपने आपको 'बड़ा' मानते हैं और अशुचि की सफाई करने वालों को 'नीच' समझते हैं। अशुचि को साफ करने के कारण ही वे नीच कहलाते हैं। किन्तु यदि माता अपने पुत्र की अशुचि साफ न करे और उसे अशुचि में ही रहने दे तो कितनी कठिनाई उपस्थित हो ! ऐसी स्थिति में अशुचि साफ करने वालों को नीच कहना और स्वयं अशुचि फैलाते हुए भी उच्च बनना कहाँ तक उचित है? जिनको आप नीच कहते हैं, वे महतर चाहें तो एक ही दिन में आपको संकट में डाल सकते हैं। एक ही दिन यदि वे हड़ताल करदें और अशुचि साफ न करें तो कितनी कठिनाई उपस्थित हो जाय ? सुना है, उदयपुर में भंगियों को चादी पहनने की मनाई कर दी गई तो उन्होंने सफाई करने का काम बन्द कर दिया। आखिर सब को ठिकाने आना पड़ा और चादी पहनने की छूट देनी पड़ी।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव मे क्रिया भी ठीक नहीं होती। और ज्ञान तथा क्रिया का समन्वय ही सम्यग्ज्ञान है। क्रिया का त्याग करके परतंत्रता के पाश में पड़ना सम्यग्ज्ञानी का लक्षण नहीं है। यह ठीक है कि कोई भी मनुष्य जीवनोपयोगी समस्त पदार्थों को स्वय नहीं तैयार कर सकता, परन्तु अभिमान तो नहीं करना चाहिए। अभिमान का त्याग कर देने से भी बहुत लाभ होगा।

एवुग्गदन्ते वि महातवोघणे,
महामुणी महापइन्ने महायसे।
महानियंठिज्जमिणं महासुयं,
से कहेइ महया वित्थरेणं ॥५३॥

अर्थ—इन्द्रियों का उग्रता से दमन करने वाले, महा तपोधनी, महा-मुनि, महा प्रभावान् और महा यशस्वी अनाथ मुनि ने महानिर्ग्रन्थ के मार्ग रूपी महाश्रुत को विस्तार के साथ श्रेणिक से कहा।

व्याख्यानः—निर्ग्रन्थों का कल्याण करने वाले इस महा सूत्र-शास्त्र में तो महापुरुषों ने अपने कल्याण के लिए थोडे में ही गूथा है, परन्तु गण-धर महाराज कहते हैं कि निर्ग्रन्थों का कल्याण करने वाली यह महाकथा महामुनि अनाथ ने लम्बे विस्तार के साथ महाराजा श्रेणिक को सुनाई थी।

आप कहेंगे—यदि यह कथा निर्ग्रन्थों का कल्याण करने वाली है तो साधु आपस मे ही क्यों नही कह सुन लेते? इसे गृहस्थों के सामने कहने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह कथा अनाथ मुनि ने निर्ग्रन्थों के सामने नहीं कही, परन्तु राजा श्रेणिक के सामने कही है। इस शास्त्रीय प्रमाण से अनायास ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि इसे

गृहस्थों के सामने कहने में कोई बाधा नहीं है। इसके अतिरिक्त, जो बात निर्ग्रन्थ के लिए हितकारी है, वह गृहस्थों के लिए भी हितकर ही होगी। क्योंकि निर्ग्रन्थो की और आपकी आत्मा समान है। निर्ग्रन्थ जो मुक्ति चाहते हैं, वही मुक्ति आप भी चाहते हैं। सब के लिए एक ही मुक्ति है। इसके अतिरिक्त जो दवा राजा के रोग को दूर कर देती है, वह गरीब के रोग को क्यों दूर नहीं करेगी? जो सूर्य राजा के प्रासाद पर अपनी प्रखर रश्मियाँ विकीर्ण करता है, वही क्या गरीब की कुटिया पर नहीं बिखेरता? सूर्य तो राज-प्रासाद और भंगी की झौंपड़ी पर समान रूप से प्रकाश डालता है, फिर उस प्रकाश से जो लाभ उठाना चाहे वह उठा सकता है। इसी प्रकार यह महासूत्र भी सब के लिए समान हितकारी है। कोई पापी इससे लाभ उठाना चाहे तो उसे भी लाभ मिल सकता है और कोई निर्ग्रन्थ चाहे वह भी लाभ उठा सकता है।

यह महाकथा किसने कही थी, यह बतलाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—इस कथा को कहने वाले महाउग्र, दान्त, तपोधनी, महाप्रज्ञावान् और महान् यशस्वी मुनि थे।

उग्र का अर्थ है—वीर, वह मुनि वीर थे, पर किसी को मारने में नहीं, अपनी इन्द्रियों का दमन करने मे वीर थे, अर्थात् कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने में वीर थे।

कोई वीर पुरुष हाथ मे शस्त्र लेकर शत्रुओं का दमन करने के लिए बाहर निकलता है, तब उससे कोई कहे कि तुम्हारी पत्नी रुदन कर रही है, तुम्हारा बेटा बीमार है, या ऐसी ही कोई बात कहे, तो क्या वीर पुरुष इस प्रकार की बात सुन कर वापिस लौट जाएगा? नहीं, उस समय उसे ऐसी बातें रूचिकर नहीं होंगी। उसके मन में तो शत्रुओं का दमन करने की ही

एक मात्र धुन होगी। वह कायरता की बातें सुनने के लिए भी तैयार नहीं होगा। सच्चा वीर आड़ी-टेढ़ी बातों पर ध्यान भी नहीं देगा। उसका संकल्प तो बस यही होगा

कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि।

अर्थात्–या तो कार्य पूरा करूँ या प्राण दे दूँ।

साधु भी ऐसे ही धर्म वीर होते हैं। वे साधुता अंगीकार करके यह विचार नहीं करते कि कदाचित् साधुता का पालन न हो सका और फिर गृहस्थी में जाना पड़ा तो कैसे मेरा भरण-पोषण होगा? अतएव मंत्र-तंत्र सीख लूँ या ज्योतिष का अभ्यास कर लूँ, जिससे संसार में भरण-पोषण तो हो सके! सच्चे साधु कभी ऐसा नहीं सोचते। वे तो 'जीवियासामरण भय विष मुक्का' अर्थात् जीवन की अभिषाला और मृत्यु की भीति से सर्वथा मुक्त होते हैं। वे साधुता में ही मस्त रहते हैं और कर्म शत्रुओं को जीतने में ही प्रयत्नशील होते हैं।

अनाथ मुनि भी उग्र थे। जिसके माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी आदि का स्नेहशील परिवार हो, जिसके पास विपुल धन-सम्पत्ति हो और जो मृत्यु शय्या से उठा हो, उसकी क्या इच्छा हो सकती है? ऐसी स्थिति में किसे भोग भोगने की इच्छा नहीं होती? कदाचित् साधु बनने का प्रसंग उसके सामने उपस्थित हो जाय तो भी एक बार तो यह विचार आ ही सकता है कि जल्दी क्या है! एक-दो वर्ष जरा मौज करलें, फिर देखा जायगा! साधु तो कभी भी बन सकते हैं। परन्तु अनाथ मुनि ऐसे उग्र थे कि शरीर का रोग शान्त होते ही उन्होंने अपने पारिवारिक जनों से कह दिया—अब मुझे दीक्षा अंगीकार करने की आज्ञा दो! और आज्ञा लेकर तत्काल ही वे दीक्षित हो गए। अनाथ मुनि ऐसे उग्र थे। धन-सम्पत्ति और

परिवार का इस प्रकार त्याग कर देना और फिर आँख उठाकर भी उस ओर न देखना क्या साधारण वीरता है ?

उग्र साधु का लक्षण क्या है ? इसका स्पष्टीकरण करने के लिए बतलाया गया है कि अनाथ मुनि इन्द्रियविजेता थे पाँचों इन्द्रियों को और मन को अपने काबू में रखने वाले थे। उग्र पुरुष ही इन्द्रिया के वशीभूत नहीं होता। इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला ही दान्त है। इस प्रकार अनाथ मुनि दान्त थे।

क्षत्रियों को हाथ की उपमा दी गई है। हाथ को ही यह सुविधा प्राप्त है कि वह सम्पूर्ण शरीर का स्पर्श कर सकता है और उसकी सार-सँभाल कर सकता है। यह योग्यता हाथ मे ही है। शरीर का पालन करने वाला भी हाथ ही है। कमाई के लिहाज से और खाने-पीने की क्रिया करने के लिहाज से हाथ ही शरीर का पालन करता है। लिखने आदि की क्रियाएँ भो हाथ से ही की जाती हैं। हाथ न हो तो सभी काम ठप हो जाएगा। हाथ शरीर के किसी भी भाग से घृणा नहीं करता। वह मुख को भी साफ करता है और पैरों को भी साफ करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय भी सब का पालन करता है और किसो से घृणा नहीं करता। वह जिस भाव से ब्राह्मणों का पालन करता है, उसी भाव से भंगियों का भी पालन करता है वह सब की देख रेख रखता है। जैसे हाथ सारे शरीर को अपने वश में रखता है, उसी प्रकार क्षत्रिय भी सब को अपने वश में रखता है। क्षत्रियों में वीरता होती है।

जैसे क्षत्रिय सब का पालन करता हुआ सब को अपने अधीन रखता है, उसी प्रकार साधु भी सभी इन्द्रियों का पालन करने के साथ उन इन्द्रियों को अपने अधीन भी रखता है।

अनाथ मुनि इन्द्रियों का दमन करने वाले महातपस्वी थे । इन्द्रियों और कषायों को जीतने के कारण ही वह तपस्वी थे । सच्चा तप कोटि-कोटि भवों के कर्मों को भी भस्मीभूत कर देता है । उपवास करना ही तप नहीं है । उपवास तो तप का एक अंग है । भगवान् ने छह बाह्य और छह आभ्यन्तर—इस प्रकार तप के बारह भेद बतलाये हैं । तप की महिमा को समझ लेने से भी बहुत लाभ होता है । परन्तु आपकी दृष्टि में तप महान् है या संसार की धन सम्पदा महान् है ? आप तप को ही महान् मानते हैं, यह आपके संस्कारों का ही प्रताप है । वास्तव में तप का धन ही महान् धन है । मान लीजिए, एक धनिक मनुष्य लाखों का जवाहरात ले जा रहा था । रास्ते में उसे दो मनुष्य मिले । उनमें से एक संसार के धन को ही महान् मानता था और दूसरा तपोधन को । संसार के धन को महान् मानने वाले ने विचार किया—पाप किये बिना तो धन आता नहीं है । इस आदमी के पास इतना धन है और छुरी का एक घाव करने से ही यह मेरा बन सकता है । फिर क्यों यह अवसर जाने दूँ ? इस प्रकार विचार करके वह जवाहरात ले जाने वाले को मार डालने के लिए तैयार हुआ । यह देखकर तपोधनी मनुष्य ने धनवान् से कहा—सांसारिक धन की संगति का ही यह दुष्परिणाम है कि इसकी नीयत बिगड़ गई है और यह तुझे मार डालने को तैयार हो गया है । तो जिस धन ने इसकी नीयत बिगाड़ी है, उसका तुम त्याग ही क्यों नहीं कर देते ? तपोधनी के इस उपदेश से धनवान् समझ गया । उसने अपने पास का सारा धन मारने को उद्यत हुए धनलोलुप के सामने रख दिया ।

धनलोलुप उस जवाहरात वगैरह धन को लेने के लिए तैयार हो गया । तब तपोधनी महात्मा ने उससे कहा—क्या यह धन लेकर अब तुम अमर

बन जाओगे ? यह धन जब इसके पास था तो तेरी नीयत बिगड़ी। अब तेरे पास है तो किसी दूसरे की नीयत बिगड़ेगी। क्यों धन के प्रति इतनी ममता रखते हो ? तपोधनी के उपदेश ने उसके हृदय पर भी प्रभाव डाला। उसने भी उस धन की ममता का त्यागकर दिया। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार का झगड़ा रह सकता है ? झगड़ा तो तभी तक था जब तक धन को लेने-देने की खींचतान थी। इस प्रकार सांसारिक धन की अपेक्षा तपोधन श्रेष्ठ है।

तपोधन श्रेष्ठ है, यह तो ठीक है, किन्तु देखना चाहिए कि तप क्या है ? अनशन भी एक तप है, पर अनशन ही तप नहीं है। फिर भी अनशन का महत्त्व कुछ कम नहीं है। महाभारत में कहा है—

तपो नानशनात्परम्।

अर्थात्—अनशन-कुछ न खाने-से बढ़कर दूसरा तप नहीं। फिर भी अनशन में ही तप की समाप्ति नहीं। भगवान् ने बारह प्रकार के तप का वर्णन किया है। उनमें पहला अनशन तप है। दूसरा ऊनोदरी, तीसरा भिक्षाचरी (वृत्ति सक्षेप), चौथा रस परित्याग, पाचवॉ काय क्लेश और छठा प्रतिसंलीनता तप है। यह छह प्रकार का बाह्य तप है। सातवा प्रायश्चित, आठवॉ विनय, नौवा वैयावृत्य, दसवा स्वाध्याय, ग्यारहवा ध्यान और बारहवा कायोत्सर्ग, यह छह आभ्यन्तर तप हैं।

जीवन में तप की बहुत आवश्यकता है। तप के बिना एक श्वास भी सुखपूर्वक नहीं लिया जा सकता। पहले अनशन तप की व्यापकता तो इतनी अधिक है कि अमेरिका के लोग भी कहने लगे हैं कि सब दवाओं में श्रेष्ठ दवा अनशन है। जिन रोगों को दूर करने के लिए बड़े-बड़े डाक्टर निराश हो चुके थे, ऐसे बड़े-बड़े रोग भी उपवास द्वारा मिटाये

गये हैं। अनशन के विषय में मेरा स्वानुभव है कि उससे रोग मिट जाते हैं। जिन्हे इसका अनुभव नहीं है, वे कदाचित् यह बात न मानें, परन्तु जो अनुभव कर चुके हैं, उनमें दो मत नहीं हो सकते।

गीता में कहा है:—

विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिन'।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य, पर दृष्ट्वा निवर्तते ॥

लोकमान्य तिलक विद्वान् थे, पर विद्वत्ता अलग और अनुभव अलग वस्तु है। अतएव उन्होंने इस श्लोक का अर्थ यह लिखा है कि उपवास से विषय तो छूट जाते हैं, परन्तु उनकी वासना नहीं जाती। अतएव उपवास करना एक प्रकार से आत्मा का घात करने के समान है। लोकमान्य के इस अर्थ से प्रकट होता है कि उन्हें उपवास के विषय में अनुभव नहीं रहा होगा। सभव है उन्होंने कभी एकादशी का भी उपवास न किया हो। इसके विरुद्ध गाधी जी उपवास के अनुभवी हैं। उन्होंने इकीस-इकीस दिनों के उपवास किये हैं। और भी थोडे-थोडे उपवास आत्म शुद्धि के या दूसरे प्रयोजन से किये हैं। अतएव वे इस श्लोक का अर्थ यह करते हैं कि शरीर की बाह्य शुद्धि के लिए उपवास अत्युत्तम उपाय है। जगली घोड़े को जब पकड़ कर लाया जाता है तो वह बहुत ऊधम करता है; परन्तु दो–तीन दिन तक भूखा रखने पर काबू में आ जाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में करने के लिए उपवास की आवश्यकता है। विधवा स्त्री और साधु ब्रह्मचारी आदि उपवास की सहायता से ही अपने नियमों का पालन करते हैं। हा, यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि उपवास वासना को नष्ट नहीं कर सकता, अतएव उपवास के साथ ही विषयों की वासना को मिटाने का भी प्रयत्न

करना चाहिए।

यद्यपि अनशन तप श्रेष्ठ है, तथापि जोर जबर्दस्ती से किसी से अनशन नहीं कराया जा सकता। तुम उपवास करो और साथ ही अपने नौकरों और पशुओं को भी उपवास कराओ—उन्हें खाना न दो—तो आपको भक्तपान विच्छेद नामक अतिचार लगेगा—आप हिंसा के भागी होंगे।

उप समीपे यो वास उपवासः स कीर्त्यते।

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन और चरित्र के समीप वासना उपवास है। किसी को जबर्दस्ती भूखा रखना उपवास नहीं है। जैनकुल में तो उपवास का ऐसा प्रचलन है कि सवत्सरी के दिन नन्हें-नन्हें बालक भी उपवास करते हैं।

अनशन के पश्चात् अवमोदर्य (ऊनोदरी) तप है। उपवास के विषय में कुछ मतभेद भी हो सकता है, किन्तु अवमोदर्य के विषय में तो मतभेद की कोई गु जाइश ही नहीं है। अल्पाहार की सभी प्रशसा करते हैं और सभी उसमें लाभ मानते हैं। अधिक खाने की इच्छा होने पर भी थोड़ा खाना ऊनोदर तप कहलाता है।

इस प्रकार छह तप बाह्य शुद्धि के लिए हैं, किन्तु आन्तरिक शुद्धि के लिए आन्तरिक तप करना चाहिए। आन्तरिक तप से ही क्रोध, मान, माया, लोभ को जीता जा सकता है। अनाथ मुनि ऐसे ही तप के धनी थे; अतएव उन्हें 'तपोधन' कहा है।

राजा श्रेणिक को उपदेश देने वाले मुनि का यहाँ संक्षेप में वर्णन किया गया है। हम अनाथ मुनि का वर्णन करें किन्तु जिन सद्गुणों के कारण उनका वर्णन किया जाता है, उन्हें न अपनाएँ तो हमारा गुण वर्णन केवल चारण-भाट जैसे प्रशसात्मक ही रह जाएगा। वीर योद्धा जब संग्राम

के लिए निकलते हैं तो चारण-भाट शौर्यगीत गाकर उनकी प्रशंसा करते हैं। उनका काम यहीं समाप्त हो जाता है। वे प्रशंसा करके ही रह जाते हैं, संग्राम तो योद्धा ही करते हैं। वीरता की प्रशंसा सुन कर वीरों को ही जोश आता है, कायरों को नहीं।

हम लोग महात्माओं के गुणों का वर्णन तो करें, किन्तु उनके गुणों को जीवन में न उतारें तो वह वर्णन चारण-भाटों जैसे ही हो जाएगा। अतएव उनके गुणों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरे अध्याय, अध्याय ही कहलाते हैं, लेकिन इस अध्याय को सुधर्मा स्वामी 'महाऽध्याय' कह रहे हैं, क्योंकि इसमें उस महाकथा का वर्णन है जो अनाथ महामुनि ने महाराज श्रेणिक को सुनाई थी। यह कथा, उस सनाथता एवं उस स्थान की मार्गदर्शिका है, जो नित्य, अविचल एवं दुःख सन्ताप रहित है।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं, कि महामुनि अनाथ ने, यह महाकथा, महानिर्ग्रन्थों का मार्ग बताने, एवं उस पर दृढ़ रहने के लिए कही है। सुधर्मा स्वामी के इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि यह कथा, केवल उन साधुओं के ही काम की हो, जो व्रत नियमों का भली-भांति पालन कर रहे हैं। यदि ऐसा होता तो सनाथी मुनि, यह कथा राजा श्रेणिक को जो गृहस्थ थान सुनाते। हाँ, मुख्यतः यह कथा, निर्ग्रन्थ मार्ग को अपनाने वालों के लिए ही है लेकिन साधारणतया इस कथा से सब लोग लाभ ले सकते हैं। महा निर्ग्रन्थ के मार्ग पर चलने वाले लोग, इस कथा से यह जान सकेंगे, कि हम इन कार्यों से बचे रहें, अन्यथा, फिर दूसरी अनाथता में पड़ जावेंगे। जो लोग गिर चुके हैं, उन्हें निकालने-उनका उद्धार करने से पूर्व जो लोग नहीं गिरे हैं, उन लोगों को न गिरने के लिए सावधान कर देना

आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से यह कथा मुख्यतः उन लोगों के लिए है, जो महा-निर्ग्रन्थ के मार्ग पर चल रहे हैं। यानी, ऐसे लोगों को सावधान कर दिया गया है, कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही संयम में प्रव्रजित हुए हो, लेकिन विषय लोलुपता, असावधानी, या प्रमाद से फिर अनाथता में मत पड़ जाना।

संयम मार्ग पर चलने वाले लोगों को सावधान करने के साथ ही, जो लोग संयम लेकर फिर अनाथता मे पड़ गये हैं, या पड़ रहे हैं, तथा जो लोग संसार की अनाथता से निकल कर संयम मे प्रव्रजित हो रहे हैं, एव जो लोग, सयम ये प्रव्रजित को अपना गुरु मानकर उनकी उपासना करते हैं, उन लोगों का भी, इस महाकथा से हित होगा। सयम में प्रव्रजित होकर फिर अनाथता में पड़े हुए लोग, इस कथा से यह बात समझ सकेंगे, कि 'हम फिर अनाथता में पड़ गये हैं। हमारे पास तो केवल संयम का वेश ही वेश है, जो व्रत-नियम का पालन न करने पर, हमें और अनाथता में धकेलने वाला है।' इस बात को जान कर, वे पुनः अनाथता से निकलने के उपाय करेंगे। जो लोग, सयम में प्रव्रजित होकर भी अनाथता में पड़ने वाले हैं, वे इस कथा से सम्हल जावेंगे। उन्हें मालूम हो जावेगा, कि हम तो सयम लेकर भी अनाथता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह मालूम होने पर, वे, अपने आप को अनाथता में पड़ने से बचा लेंगे। इसी प्रकार जो लोग, ससार की अनाथता से निकलने के लिए सयम ले रहे हैं वे, इस महाकथा पर विचार करके सयम में प्रमाद न करेंगे, किन्तु सावधानी रखेंगे। उन्हें यह मालूम रहेगा, कि हम एक अनाथता से तो निकले हैं, लेकिन एक अनाथता और है; हम असावधानी से उसमें न जा गिरें, नहीं तो कहीं के न रहेंगे। जो लोग, संयमी लोगों को अपना गुरु मानकर उनकी

उपासना करते हैं, इस महाकथा द्वारा वे, अपने माने हुए गुरु के लिए यह जान सकेंगे, कि हम जिन्हें अपना गुरु मान रहे हैं, वे वास्तव में संयम पालन करने वाले और सनाथ हैं, या संयम के नाम से आजीविका करने वाले अनाथ हैं। केवल वेश से तो साधु असाधु की परीक्षा हो नहीं सकती, क्योंकि वेश तो संयम पालने वाले और न पालने वाले दोनों का समान ही है, लेकिन इस महाकथा में जो लक्षण बताये हैं, उनसे, अनाथ, संयम का पालन न करने वाले और थोथा वेश धारण करने वाले, जाने जा सकेंगे। जिससे वे उपासक लोग, धोखा न खावेंगे और धर्म समझ कर, पाप में प्रवृत्त न होंगे।

तात्पर्य यह, कि जिस प्रकार वृक्ष लगाने का उद्देश्य, फल खाना होता है, लेकिन उससे छाया भी मिल जाती है, इसी प्रकार यह कथा, महानिर्ग्रन्थों के मार्ग को अपनाने वाले लोगों लिए होते हुए भी, इससे सभी लोग लाभ उठा सकते हैं।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—जम्बू, इस महाकथा का, महामुनि सनाथी ने बड़े विस्तार पूर्वक वर्णन किया। श्री सुधर्मा स्वामी के कथन का अभिप्राय यह है, कि मैंने जो वर्णन किया है, वह तो संक्षिप्त है, लेकिन महामुनि सनाथी ने इसे विस्तार पूर्वक कहा था।

शास्त्रों में किसी बात का विस्तृत वर्णन नहीं हो सकता। विस्तृत वर्णन से, असुविधा के साथ ही, ग्रन्थवृद्धि का भी भय रहता है। शास्त्रों में, यदि प्रत्येक बात का विस्तृत वर्णन किया जावे, तो शास्त्र बढ़ जावेंगे और साधु उन्हें स्मृति में न रख सकेंगे। इसीलिए शास्त्रों मे प्रत्येक बात का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। 'सूत्र' शब्द का अर्थ भी, बहुत अक्षर वाले अर्थ को थोडे में बताना है। उस संक्षिप्त वर्णन की, विस्तृत रूप में

व्याख्या करना वक्ता का काम है। हाँ, वक्ता उस विस्तृत व्याख्या में, कोई ऐसी बात मिलाने का अधिकार नहीं रखता, जो शास्त्र-सम्मत न हो, लेकिन शास्त्र की संक्षिप्त बात की विस्तृत व्याख्या करना और उस व्याख्या को युक्ति दृष्टान्त आदि से पुष्ट करना वक्ता का काम है।

तुट्ठो य सेणियो राया, इणमुदाहु कयंजली।
अनाहयं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदेसियं ॥ ५४॥

अर्थ— अनाथ मुनि का कथन सुनकर श्रेणिक राजा सन्तुष्ट हुआ और हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगा—आपने अनाथता का स्वरूप मुझे बहुत अच्छा समझाया।

व्याख्यानः—महामुनि ने मगधसम्राट् को अनाथता का स्वरूप समझाया। उसे सुनकर उस पर क्या प्रभाव पड़ा, इस बात का वर्णन करते हुए गणधर स्वामी कहते हैं—सनाथ-अनाथ की व्याख्या सुन कर राजा श्रेणिक अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। इस कथन से यह प्रकट किया गया है कि श्रेणिक पहले कुछ और सोच रहा था और मुनि का कथन सुनने के अनन्तर कुछ और ही सोचने लगा। राजा वीर था, अतः यह कथा सुन कर उसने मुनि को हाथ जोड़े। वह साधारण बनिया नहीं था कि साधारण-सी बात के लिए भी हाथ जोड़ने लग जाय। वह क्षत्रिय राजा था। क्षत्रिय से हाथ जुड़वा लेना सरल नहीं है, बल्कि बहुत कठिन होता है। बड़े बड़े महाराज और सम्राट भी उससे सहज हाथ नहीं जुड़वा सकते। वीर क्षत्रिय लोभ या संकट में पड़ कर किसी को हाथ नहीं जोड़ता। बादशाह अकबर ने महाराणा प्रताप को राज्य का एक विशाल भाग देने का प्रलोभन दिया, फिर भी उन्होंने अकबर को हाथ नहीं जोड़े। इस प्रकार क्षत्रियों से हाथ

जुड़वा लेना टेढ़ी खीर है, तथापि जब उनका हृदय बदल जाता है, तब भक्तिवश होकर वे हाथ जोड़ने में देर भी नहीं करते।

राजा श्रेणिक सन्तुष्ट होकर अनाथ मुनि से कहने लगा—आपने अनाथता का स्वरूप मुझे बहुत सुन्दर रूप से समझाया।

राजा जब तक अनाथता के भाव को नहीं समझा था, तब तक यही समझ रहा था कि जिसे सांसारिक वैभव अधिक मिला हो, वह सनाथ है और जो दुनिया की सम्पत्ति से रहित हो वह अनाथ है।

राजा श्रेणिक तो ऐसा समझता ही था, पर आप क्या समझते हैं? आप लोग भी तो यही समझते हैं न? आपने अनाथालय खोले हैं और जिन्हें कोई खाना-पीना देने वाला नहीं है, जिनकी शिक्षा का प्रबंध करने वाला कोई नहीं है, ऐसे बच्चों को अनाथ समझा जाता है। ऐसे अनाथों को अनाथालयों में रक्खा जाता है। इस प्रकार राजा की पहले की धारणा में और आपकी धारणा में क्या अन्तर रह जाता है?

राजा श्रेणिक अपने आपको सनाथ समझता था, क्योंकि उसके पास संसार की विपुल सम्पत्ति थी। अपने को सनाथ समझने के कारण ही उसने मुनि से कहा था कि ऐसे सुन्दर और सुरूपवान् होते हुए भी आप भर यौवन में साधु क्यों बने? इस प्रश्न के उत्तर में मुनि ने कहा—'मैं अनाथ होने के कारण साधु बना?' तब राजा ने चकित होकर कहा—आप जैसे सुन्दर और स्वस्थ पुरुष अनाथ हों, यह मेरी समझ में नहीं आता। फिर भी मैं वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता, सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि अगर आप अनाथ हैं तो मैं आपका नाथ बनता हूँ। मैं राजा आपका नाथ बनने को तैयार हूं, फिर आपको और क्या चाहिए? आप मेरे साथ चलिए और भोगोपभोग कीजिए। मनुष्य जन्म को इस

प्रकार खराब न कीजिए। मेरे राज्य में ऐसे सुन्दर और स्वस्थ शरीर वाले लोग अपनी जिंदगी खराब करें, यह मै नहीं देख सकता।

श्रेणिक के इस प्रकार कहने का मूल कारण यही था कि वह सनाथ अनाथ का वास्तविक स्वरूप नहीं जानता था। संसार के वैभव वाला सनाथ है, यह उसका अज्ञान था। वह जिसे सुधार समझता था, वह भी करने को तैयार था। आज भी किसी को पौद्‌गलिक दृष्टि से दुखी न रहने देना सुधार समझा जाता है। श्रेणिक भी यही सुधार करने को तैयार हुआ था और मुनि को भोग सामग्री देकर सुखी बनाना चाहता था। इससे अधिक वह कर भी क्या सकता था? अपनी आत्मा को ऊँचा चढाने की यह प्रथम सीढी है। किसी को दुखी देखकर उसके दुःख को दूर करने का प्रयत्न करना, नीति की इस प्रथम पंक्ति पर चढ कर ही आत्मा आगे बढ सकती है।

राजा मुनि का दुःख दूर करने के लिए तैयार होकर नीति की पहली सीढी पर चढ गया था, परन्तु आप लोग अपने सम्बन्ध में विचार करो। आप यह चरित सुन रहे हैं, परन्तु विचार करो कि आप पहली सीढी चढे हो या नहीं? किसी को दुखी देखकर उसका दुःख दूर करते हो या नहीं? कदाचित् कहा जाय कि राजा श्रेणिक जिस दुःख को मिटाने के लिए तैयार हुआ था, उसे मिटाना तो संसार का काम है। परन्तु मै पूछता हूँ कि क्या आप संसार में नहीं हैं? आप भी तो संसार में ही बैठे हैं, फिर भी जिनकी कमाई से धनवान् बने हो उन गरीबों का विचार न करो, उनका दुःख देखकर आपका हृदय न पिघले, तो कैसे कहा जा सकता है कि आप इस कथा को सुनने के पात्र बने हो?

सुना है, दक्षिण प्रान्त में, दुर्भिक्ष के कारण सात गायें नौ आने में

बेच दी गई। सात गायों की कीमत क्या नौ आना होनी चाहिए ? परन्तु खरीददार मुफ्त में लेना नहीं चाहता होगा, इसीलिए उसने नाम मात्र की कीमत दी होगी। यह भी सुना है कि पाँच हजार पशुओं को कसाई ले गये। उन्हें वे कत्ल करेंगे। गाय आदि पशुओं की ऐसी दुर्दशा देखकर भी अगर आप खाने-पीने में, पहनने-ओढने में और नाटक-सिनेमा देखने में ही मस्त रहो तो क्या यह कहा जा सकता है कि आप अपने धन का सदुपयोग कर रहे हैं ? कैसे माना जाय कि आप सनाथ-अनाथ का भेद समझने के पात्र बने हैं ?

जरा राजा श्रेणिक के प्राथमिक कार्य की ओर ध्यान दीजिए। उसने मुनि से कहा—मैं किसी को दुःखी नहीं देख सकता। दूसरों को दुखी देखकर भी मैं सुखोपभोग करूँ, यह मुझसे नहीं बन सकता। राजा श्रेणिक इस प्रकार का विचार करता था और जिसके अन्तरंग में इस प्रकार का विचार है, वही मनुष्य सनाथ-अनाथ के उपदेश का पात्र बन सकता है।

जब मुनि ने राजा से कहा—अनाथ होने के कारण मैंने दीक्षा ली है, तो राजा ने कहा—मैं आपका नाथ बनता हूँ। मगर जब मुनि ने कहा—तुम स्वयं अनाथ हो तो दूसरे के नाथ कैसे बन सकते हो ? तब राजा के आश्चर्य का पार न रहा। वीर होने के कारण वह चुप न रहा। उसने निर्णय करने के अभिप्राय से मुनि से पूछा—महाराज, आप मुझे पहचानते हैं कि नहीं ? मैं मगध का राजा हूँ, प्रचुर वैभव मेरे चरणों में लोटता है, मेरा ऐश्वर्य अप्रतिहत है। मैं अनाथ कैसे ? क्या आपका कथन मृषा नहीं है ?

राजा ने यह बात किसी और से कही होती तो संभवतः वह क्रुद्ध हो जाता, लेकिन यह मुनि तो क्षमा के सागर थे। अतएव राजा के कथन

के उत्तर में उन्होंने कहा—राजन्, ऐसा कहने में तुम्हारा नहीं, तुम्हारे अज्ञान का दोष है। तुम्हें सनाथ-अनाथ का स्वरूप मालूम नहीं है।

यह कहकर मुनि ने स्पष्ट रूप से सनाथ-अनाथ का स्वरूप समझाया। तब राजा हाथ जोड़कर मुनि से क्षमायाचना करने लगा। बोला—महानिर्ग्रन्थ! मैंने अनुचित बात कहकर आपका अपराध किया है। मेरे अपराध को क्षमा कीजिए।

तुब्भे सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं,
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी।
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य,
जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं॥ ५५॥

अर्थ—महर्षि! आपका मनुष्यजन्म पाना सफल है। आपने मनुष्यजन्म का बहुत लाभ लिया। आप जिनेन्द्र देव के मार्ग में स्थित हैं, अतएव आप ही सनाथ और बन्धु-बान्धवों से युक्त हैं।

व्याख्यानः—राजा श्रेणिक, अनाथ मुनि के द्वारा प्राप्त वस्तु को किस प्रकार उन्हीं की भेंट चढ़ाता है, यह बात ध्यान देने योग्य है। मान लीजिए, एक राजा ने किसी को एक बगीचा भेंट में दिया। राजा द्वारा भेंट पाने वाला व्यक्ति अगर कृतज्ञ होगा तो वह बगीचे में पैदा होने वाले फलों-फूलों को राजा को भेंट किये बिना नहीं रहेगा। इसी प्रकार उपदेश का पात्र यदि कृतज्ञ है तो वह बोध रूपी बगीचे के फल-फूलों, बोध देने वाले गुरु को भेंट चढाये बिना नहीं रहेगा, जिस प्रकार श्रेणिक राजा, अनाथ मुनि को स्तुति के रूप में भेंट चढा रहा है। ऐसा करना सुपात्र का लक्षण है। भगवान् महावीर ने गोशालक और जमालि को बोध दिया

था । मगर वे कैसे निकले ? वस्तुतः एक ही प्रकार के उपदेश को विभिन्न पात्र अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ग्रहण करते हैं ।

राजा श्रेणिक, अनाथ मुनि से कहता है—मुनिवर। आपका उपदेश सुनकर मुझे खातिरी हो गई है कि सुन्दर मनुष्यजन्म आपने ही पाया है और आपने ही उसका पूरा लाभ उठाया है ।

जो मनुष्य अपना लाभ करता है, वही दूसरों को लाभ पहुँचा सकता है और जो दूसरों का अहित करता है, वह अपना भी अहित करता है । जो दूसरों के कल्याण में निरत रहता है, उसके प्रयत्न से दूसरों का हित हो या न हो, उसका निज का कल्याण तो हो ही जाता है ।

राजा श्रेणिक ने पहले कहा था कि आप मनुष्य जन्म का साधुपन में उपयोग करके दुरुपयोग कर रहे हैं—पत्थर के बदले में हीरा दे रहे हैं, किन्तु जब मुनि के उपदेश से उसे सद्बोध प्राप्त हुआ, तब वही राजा कहने लगा—आपका मनुष्य जन्म सुन्दर है और आपने ही मनुष्य जन्म से सच्चा लाभ उठाया है ।

राजा श्रेणिक की भाँति आप लोग भी यह धर्म कथा सुन कर बढ़िया खान-पान में ही मनुष्य जन्म को सफल न मानो, उससे सच्चा लाभ उठाओ। अपने जीवन को दूसरों के कल्याण में लगा दो। उस समय आप भी यही मानने लगोगे कि अब हमारा जीवन सार्थक बन गया है । मनुष्य जीवन का मूल्य समझो और कृतज्ञ बनो ।

राजा श्रेणिक का हृदय थोड़ी ही देर में पलट गया । ज्ञानी पुरुष का समागम होने पर आत्मा किस प्रकार अनूठी जागृति का केन्द्र बन जाता है, यह बात श्रेणिक के चरित्र से समझी जा सकती है । राजा श्रेणिक ने अपने अनेक कार्यों से नरक की आयु बाँधली थी; फिर भी अनाथ मुनि के समा-

गम से उसने तीर्थंकर गोत्र बाँध लिया। इस प्रकाश मे आपको विचारना चाहिए कि पहले बाँधे कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं, परन्तु जो सद् वस्तु इस समय मिल रही है, उसे प्राप्त करके भविष्य के लिए आत्मा का कल्याण करना चाहिए और उसमे ढील नहीं करना चाहिए।

यह बीसवाँ अध्ययन साधुओं को लक्ष्य करके तो कहा ही गया है, परन्तु है साधु और श्रावक सब के लिए समान उपयोगी और कल्याणकारी। इस अध्ययन में यह नहीं कहा गया है कि साधु होने पर ही कल्याण साधन किया जा सकता है। इसमें तो साधुओं को सावधान किया गया है कि तुम नाथ होकर थोडे से प्रलोभन मे पड़ कर अनाथ न बन जाना। इस प्रकार साधुओं को सावधान तो किया गया है, पर यह नहीं कहा कि सब को महाव्रत स्वीकार कर ही लेना चाहिए, हाँ, यह अवश्य बतलाया गया है कि अगर महाव्रतों को अंगीकार न कर सको तो ऐसी श्रद्धा अवश्य रक्खो कि हम महाव्रत पालने वालों के उपासक हैं।

हृदय परिवर्त्तन के पश्चात् राजा श्रेणिक ने अनाथ मुनि से जो कुछ कहा था, वह गणधरों ने सूत्र रूप में ग्रथित करके और हमारे समक्ष उपस्थित करके हमारा महान् उपकार किया है। यह बात ध्यान में रख कर हमें विचारना चाहिए कि सद्बोध देने वाले के प्रति हमे किस प्रकार कृतज्ञ बनना चाहिए।

राजा श्रेणिक कहता है—हे मुनि। यह श्रेष्ठ मनुष्य जन्म आपको ही प्राप्त हुआ है। आपने ही इस जन्म को सफल बनाया है। इस कथन के सम्बन्ध मे टीकाकार कहते हैं कि मुनि के शरीर पर विद्यमान सुलक्षणों को देख कर पहले राजा विचार करता था कि ऐसे प्रशस्त लक्षणों से सम्पन्न होते हुए भी यह साधु कैसे बने।

आज किसी के शरीर पर सुलक्षण विद्यमान हों तो वह उनके फल-स्वरूप यही जानना चाहता है कि उसे कितनी स्त्रियाँ, कितने पुत्र और कितनी सम्पत्ति मिलेगी ! अधिकाश लोग इसी रूप में अपने सुन्दर लक्षणों का फल चाहते हैं । 'मेरे शरीर में ऐसे शुभ लक्षण हैं तो मैं संयम धारण कर सकूँगा या नहीं', इस प्रकार का विचार करने वाला तो कोई विरला ही होगा । ग्रन्थों में नाक कान आदि के बत्तीस लक्षण बतलाये गये हैं । इन सुलक्षणों के परिणामस्वरूप लोग विपुल वैभव प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं । यही बड़ी भूल है । सुन्दर लक्षणों का भी किस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है और उनके द्वारा किस प्रकार अपने ही हाथों अकल्याण कर लिया जाता है, यह बात ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती के चरित्र से देख लो । ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के शरीर में बहुत से शुभ लक्षण थे और उनके कारण वह चक्रवर्ती भी हुआ, परन्तु उन्हीं शुभ लक्षणों से उसने सातवें नरक के योग्य पाप का बंध कर लिया ।

कल्पना करो, एक मनुष्य शुभ लक्षणों से सम्पन्न और तलवार लेकर तुम्हें मारने आया है । उस समय तुम्हें वह कैसा लगेगा ? आप यही कहोगे कि यह कैसा कुलक्षणी है ।

जैसा आप अपने लिए सोचते हो, वैसे ही दूसरों के लिए भी सोचो । जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को कष्ट देता है, वह भले सुलक्षणों वाला हो, फिर भी सुलक्षण वाला नहीं माना जाता । सुलक्षण सम्पन्न तो वही है जो किसी को कष्ट नहीं देता और सब पर कृपा भाव रखता है । इसी कारण श्रेणिक राजा ने मुनि से कहा है कि वास्तव में आपके लक्षण ही सुल-क्षण हैं ।

कोई भी महिला, चाहे उसमें कितने ही सुलक्षण क्यों न हों और वह

कितनी ही सुन्दरी क्यों न हो, तब तक सुलक्षणवाली नहीं कहला सकती, जब तक उसमें शील का लक्षण न हो। शील का लक्षण न होने पर भी सुलक्षणा मान लिया जाय तो वेश्या को भी सुलक्षणा क्यों न माना जाय?

राजा कहता है—पहले मैं कहता था कि ऐसे प्रशस्त लक्षणों से सम्पन्न शरीर को आपने संयम में क्यो लगा दिया? क्यों संयमधारण कर लिया! किन्तु अब मेरी समझ में आ गया कि आपने इस शरीर को सयम में लगा कर अधिक सुन्दर बना लिया है और अपने जन्म को सफल कर लिया है।

राजा श्रेणिक की तरह आज के लोग भी यही कहते हैं कि संयम में क्या रक्खा है। हमें ऐसी बातें सुनाइए, जिनसे मजा आवे! वे कहते हैं—धर्म की बात रहने दीजिए, समाज-सुधार की बात बतलाइए! किन्तु धर्म से समाज सुधार नहीं होगा, ऐसा समझना उनकी गम्भीर भूल है।

राजा कहता है—'मैं भोगों का उपभोग करने में ही मनुष्य जन्म को सफल मानता था, किन्तु अब समझ गया हूँ कि मनुष्य जीवन की सच्ची सफलता सयमपालन में ही है। सयम ग्रहण करके आपने जीवन सार्थक बनाया है और आप अनाथता को हटा कर सनाथ बने हैं। आप अपने ही नाथ नहीं बने, किन्तु समस्त त्रस और स्थावर जीवों के भी नाथ बने हैं। अब मैं यह भी भली भाति समझ गया हूँ कि वास्तव में मैं अनाथ हूँ।'

योग—क्षेम करने वाले को नाथ कहते हैं, अर्थात् जो अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करावे और प्राप्त की रक्षा करे, वह नाथ है।

कहा जा सकता है कि यह बात तो संसार-व्यवहार में भी लागू पड़ती है। किसी ने किसी भूखे को रोटी दी और उस रोटी को खाने के लिए दौड़ने वाले कुत्ता आदि को भगा दिया. तो वह अप्राप्त को प्राप्त कराने वाला और प्राप्त की रक्षा करने वाला हुआ। ऐसी स्थिति में ऐसा करने

वाला दूसरे मनुष्य का नाथ हुआ या नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रोटी देकर और रोटी की रक्षा करके भी वह उसका नाथ नहीं कहला सकता क्योंकि जब तक वह अपना नाथ नहीं बना तब तक दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है ? हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसने रोटी देकर दया की है, फिर यह कहना उचित नहीं कि वह उसका नाथ बन गया है। रोटी देकर वह सदा के लिए उसके शरीर की रक्षा नहीं कर सकता और न आत्मा की ही रक्षा कर सकता है।

आशय यह है कि योग-क्षेम करने वाला नाथ कहलाता है, यह तो ठीक है, किन्तु संसार में कोई ऐसा नहीं है जो स्थायी रूप से योग-क्षेम कर सके। सच्चा योगक्षेम करने वाला तो संयम ही है। इसीसे राजा, अनाथ मुनि से कहता है—हे मुनि ! आप ही सच्चे नाथ हैं। आप अपने भी नाथ हैं और संसार के अन्य प्राणियों के भी नाथ हैं।

कहा जा सकता है कि मुनि का अपना नाथ बन जाना तो ठीक है, किन्तु वे दूसरों के नाथ कैसे बन गये ? इसका उत्तर यह है कि राजा श्रेणिक यों तो न जाने कितनी बार नरक में जाता, पर अनाथी मुनि उसके नाथ बने तो उसने तीर्थंकर गोत्र बाँध लिया। इस दृष्टि से मुनि दूसरों के भी नाथ हुए।

साधारणतया अपना उपादान अच्छा होना चाहिए। उपादान अनुकूल न हो तो निमित्त का मिल जाना भी निरर्थक साबित होता है। सूर्य सब को प्रकाश देता है, किन्तु कोई अन्धा आदमी कहने लगे कि वह मुझे प्रकाश नहीं देता, तो उसे यही कहा जायगा कि यह तो तेरे ही उपादान का दोष है। इसी प्रकार अनाथ मुनि तो सब के नाथ हैं, पर अपना-अपना उपादान अच्छा होना चाहिए।

राजा कहता है—हे मुनि ! आप ही नाथ हैं और आप ही सच्चे बान्धव हैं। सहायता करने वाला बान्धव कहलाता है; अतः अन्तिम समय तक सहायता देने वाले सच्चे बान्धव भी आप ही हैं; क्योंकि आपने जिनेन्द्र के मार्ग को ग्रहण किया है।

राजा श्रेणिक की भक्ति देखकर तुम भी परमात्मा से प्रार्थना करो कि—प्रभो ! जिस प्रकार मुनि की ओर राजा का भक्तिभाव प्रकट हुआ, उसी प्रकार मेरे अन्तःकरण में आपके प्रति भक्ति प्रकट हो। इस प्रकार निर्मल चित्त से परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो तुम्हारा परम कल्याण होगा।

तं सि नाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया।
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥ ५६ ॥
पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो जो कओ।
निमंतिया य भोगेहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे संयत ! हे महाभाग ! आप अनाथों के नाथ हैं, आप सब प्राणियों के नाथ हैं। मैं आपसे क्षमा की प्रार्थना करता हूँ और आपसे शिक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ।

मैंने प्रश्न करके आपके ध्यान में विघ्न डाला और आपको भोग भोगने के लिए आमंत्रित किया। यह सब मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

व्याख्यानः—राजा श्रेणिक अनाथ मुनि के गुणों की प्रशंसा कर रहा है। जिन मुनि के गुणों का वर्णन करने में श्रेणिक जैसा राजा भी समर्थ न हो सका, उनके गुणों का हम जैसे किस प्रकार वर्णन कर सकते हैं ! फिर भी हमें निराश नहीं होना चाहिए। बल्कि राजा ने मुनि की प्रशंसा में जो शब्द कहे हैं, उन्हें हृदय में उतार कर मुनि के साथ अपना सम्बन्ध

स्थापित कर लेना चाहिए। ऐसा करने से राजा श्रेणिक की तरह हम भी अपना कल्याणसाधन कर सकेंगे ।

पहले जो वर्णन किया जा चुका है, वही यहा पहली (५६ वीं) गाथा में किया गया है। अर्थात् इस गाथा में पहले के वर्णन को दोहराया है। कहा जा सकता है कि पुनरुक्ति को काव्य में दोष माना गया है। यहाँ भी यही दोष क्यों नहीं आता ? इसका उत्तर यह है कि गुणानुवाद करने में, स्तुति करने में और निन्दा करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। राजा का कथन स्तुति या प्रशंसा रूप है। अतएव यहा एक कथन को दोहराना दोष नहीं है, बल्कि गुण है। इसीलिए राजा ने अपने कथन को दोहराया है।

राजा श्रेणिक कहता है—मुनिवर ! जिस अवस्था में दूसरे लोग मोह मे पड़ जाते हैं, उस अवस्था में भी आप मोह में न पडे और संयम में संलग्न हो गये, इस कारण आप सनाथ हैं। आप अनाथों के नाथ हैं। संयम ग्रहण करने से पहले आपकी आत्मा अनाथ थी, किन्तु अब सनाथ हो गई है। और जो अपना नाथ बन जाता है, वह दूसरों का भी नाथ बन जाता है। अतएव आप अनाथों के नाथ हैं।

आपने अपनी सम्पत्ति का वर्णन करके बतलाया कि 'प्रचुर सम्पत्ति होने पर भी जब शरीर में रोग उत्पन्न हुआ तो वह सम्पत्ति कुछ भी काम न आई'। इस वर्णन से मैं समझ गया कि श्रीमंताई किसी मतलब की नहीं है। उलटी वह अनाथता बढाने वाली है। साथ ही यह बात भी मेरी समझ में आ गई कि किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार जमाने से आत्मा अनाथ-गुलाम-बन जाती है। अतएव मैं अपने को अनाथ समझने लगा और मैंने माता-पिता, धन आदि पर से अपना अधिकार हटा लिया।

मैने मुँह से ही अधिकार हटा लेने की बात नहीं कही, वरन् अन्तःकरण से भी ऐसा कर बतलाया। इस प्रकार जब मैने परवस्तु की गुलामी छोड़ दी तभी मैं सनाथ बन सका।

हे मुनि! आपका यह कथन मेरी समझ में आ गया है। आप ही सचमुच सनाथ हैं और आप ही समस्त प्राणियों के नाथ हैं, यह तथ्य अब मैं बखूबी समझ गया हूँ।

मित्रो! अगर आपने भी राजा और मुनि के कथन को समीचीन रूप से समझ लिया है, तो आप भी मानो कि जब तक एक भी परमाणु पर 'यह मेरा है' इस प्रकार का ममत्व है, तब तक आत्मा अनाथ है। संसार के समस्त पदार्थों पर से जब ममत्व हट जाता है, तभी आत्मा सनाथ बन सकती है।

समस्त सांसारिक पदार्थों की ममता त्याग कर साधु बन जाना और इस प्रकार अनाथता से बाहर निकल जाना तो ठीक है. परन्तु कुछ लोग साधु होकर फिर अनाथता में पड जाते हैं, यह अत्यन्त अनुचित है। साधु होकर किस प्रकार अनाथ बना जाता है, यह बात यद्यपि साधुओं को समझनी चाहिए, लेकिन आप गृहस्थों को भी समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि आप (श्रावक) साधुओं के रक्षक हैं। भगवान् ने साधुओं को श्रावकों की गोद में रखा है। इस बात को भलीभांति समझ कर आप साधुओं को आधार देंगे तो आप स्वयं भी सनाथ बन जाएँगे। सनाथ मुनियों का दर्शन भी अनाथता के निवारण का कारण है, तो जब आप सनाथ मुनि को आधार देंगे तो आप की अनाथता क्यों नहीं मिटेगी? अतएव ऐसे साधुओं को आधार दो। आधार देने में थोड़ा कष्ट तो सहन करना पड़ता है, परन्तु कष्ट सहन किये बिना कोई काम होता भी तो नहीं!

हम साधुओं को भी सोचना है कि हम सनाथ बनने के लिए साधु हुए हैं या अनाथ रहने के लिए ? हमने जूते पहनने का त्याग क्यों किया है ? जूते न पहनने के कारण पैरों में जलन भी लगती है और काटे भी लगते हैं; फिर भी हम जूते नहीं पहनते, क्योंकि जूते पहनने से आत्मा अनाथ बनती है। मस्तक पर सख्त धूप पड़ती है और दूसरे कष्ट भी होते हैं; फिर भी हम छतरी या छतरी जैसे पदार्थों का उपयोग नहीं करते। इसका कारण यही है कि उन पर ममता होने पर हमारी आत्मा अनाथ बन जाती है। दूसरी वस्तुओं की तो बात ही क्या, भगवान् तो यहाँ तक कहते हैं कि साधु को अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखना चाहिए। जो वस्तु या शरीर धर्म में सहायता दे उसकी सहायता तो ले लेनी चाहिए, परन्तु उस पर ममत्व स्थापित नहीं करना चाहिए।

भगवान् के बतलाये इस मार्ग को भूल कर जो इन्द्रियों के वशीभूत हो जाता है, वह अनाथ मुनि के कथनानुसार अनाथ है। अतएव साधुओं को विचार करना चाहिए कि जब हमने सोने-चाँदी, ताम्बे-पीतल के पात्रों का परित्याग कर दिया है तो फिर काष्ठ के पात्रों पर क्या ममता रक्खें ? जब रंगीन वस्त्रों का त्याग कर दिया है तो श्वेत वस्त्रों पर ममता कैसी ? रेशमी वस्त्र धारण क्यों करें ? इस प्रकार विचार कर साधुओं को सादगी ही रखनी चाहिए। सुखशील बनने वाला साधु अनाथ ही रह जाता है। साधुओं को सनाथ बन कर फिर अनाथ नहीं बनना चाहिए।

कोई वस्तु अपने लिए ही सुखदायी होती है और कोई अपने लिए सुखदायी होने के साथ साथ जगत् के लिए भी सुखदायी होती है। जो वस्तु जगत् के लिए सुखप्रद होती है, वही वस्तु महत्त्वपूर्ण और दैवी मानी जाती है। सूर्य इसीलिए महान् माना जाता है कि उसके द्वारा सब को समान रूप

से प्रकाश मिलता हैं। अगर सूर्य अपना प्रकाश अपने लिए ही रख लेता तो वह महान् न कहलाता। जल और वायु वगैरह सब के लिए समान उपकारी हैं, इसी कारण उनकी भी महत्ता है। इसी प्रकार मुनि की सनाथता भी सब के लिए लाभकारी और कल्याणकारी है। सूर्य का प्रकाश तो सभी लोग चाहते हैं, पर सभी लोग सूर्य नहीं बन सकते। इसी प्रकार युवावस्था में सम्पत्ति, माता-पिता, भाई, बहन, पत्नी आदि का त्याग करके सूर्य की तरह सनाथ बनने की शक्ति सब में नहीं होती, किन्तु जो मुनि सनाथ बने हैं, उनका लाभ तो सभी ले सकते हैं।

राजा मुनि से कहता है—मुनिवर। आप मेरा अपराध क्षमा कीजिए। संसार में अज्ञान के समान कोई पाप नहीं है। अज्ञान ही समस्त पापों का मूल है। मैंने भी अज्ञान के कारण ही अपराध किया है। उसके लिए क्षमा कीजिए।

जिस प्रकार अज्ञान के कारण राजा ने मुनि का अपराध किया था, उसी प्रकार अपने आत्मा ने भी न जाने कितने पाप किये होंगे! क्या हमारे आत्मा ने अच्छी वस्तु को बुरी और बुरी को अच्छी नहीं मानी होगी? यही नहीं, अज्ञान के कारण इस आत्मा ने अपूज्य को भी पूज्य माना होगा?

राजा कहता है—मैंने अज्ञान से आपका अपराध किया था। मैं अज्ञान के कारण ही आपका माहात्म्य नहीं समझ सका था। आप सत्य स्वरूप समझा रहे थे, फिर भी मैंने आपकी बात असत्य कहकर अस्वीकार कर दी। यह मेरा अपराध है। आप मेरा यह अपराध क्षमा करें। अब मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हूँ। अब कभी आपकी शिक्षा का अपलाप नहीं करूंगा।

आजकल की शिक्षा पर विचार कीजिए। किसी को विद्या के प्रति

अरुचि नहीं हो सकती। विद्या पढ़ कर आत्मा का स्वरूप समझना तो ठीक है, परन्तु आज तो शिक्षा के नाम पर यह सिखाया जाता है कि आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। कहा जाता है—आत्मा है कहां? प्रत्यक्ष दीख पड़े तो आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करें। परन्तु ऐसा कहने वालों को समझना चाहिए कि कोई वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से मानी जाती है और कोई अनुमान प्रमाण से। आधुनिक वैज्ञानिक भी यह बात स्वीकार करते हैं। तो आत्मा को भी केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से देखने की इच्छा न करो, अनुमान प्रमाण से जानो।

कहा जा सकता है कि न देखी हुई वस्तु को मानने से मनुष्य भुलावे में पड़ जाता है। इसका उत्तर यह है कि क्या देखी हुई वस्तु के विषय में भ्रम नहीं होता? भ्रम से बचना तो तभी संभव है जब मनुष्य पूर्ण बन जाय। अपूर्ण अवस्था में भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक है। अतएव केवल प्रत्यक्ष से देखने का आग्रह न करो। प्रत्यक्ष की तरह अनुमान प्रमाण को भी मान्य करो। अनुमान प्रमाण भी आधारभूत है। इसके अतिरिक्त जिसे तुम प्रत्यक्ष कहते हो, वह भी आत्मा से प्रत्यक्ष नहीं, केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हैं और इन्द्रियप्रत्यक्ष से भी लोग भ्रमणा में पड़ जाते हैं।

जैसे इतिहास-भूगोल के जानकार लोग पहले जितना प्रत्यक्ष देखा उतना ही मानते थे, किन्तु फिर अनुमान प्रमाण के आधार से कहने लगे कि हम जितना देखते हैं, उससे आगे भी कुछ है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के बिना काम नहीं चल सकता। मान लीजिए, आपने अपने दादा को प्रत्यक्ष नहीं देखा, फिर भी अनुमान से उसे मानते हो या नहीं? इस प्रकार अनुमान प्रमाण न जाना जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों एक रथ के दो चक्रों के समान हैं। रथ एक

चक्र से नहीं चल सकता। इसी प्रकार वस्तु का निर्णय भी अकेले प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। उसके लिए परोक्ष प्रमाण की सहायता लेना भी आवश्यक है। प्रत्यक्ष और परोक्ष-दोनों प्रकार के ज्ञान से ही वस्तु का स्वरूप जाना जा सकता है।

यद्यपि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष प्रमाण मानना भी आवश्यक है, परन्तु आत्मा को तो प्रत्यक्ष से जान कर भी भूल रहे हो! अपनी आत्मा अपने लिए तो प्रत्यक्ष ही है और अपनी आत्मा दूसरों की आत्मा को अनुमान द्वारा जान सकती है। व्यवहार में कहा जाता है—'मैंने वह वस्तु आख से देखी।' इस कथन से देखने वाला आख के अतिरिक्त दूसरा ही कोई प्रतीत होता है। आख तो केवल करण है—साधन मात्र है। इस आख रूप करण का प्रयोग करने वाला कर्त्ता ही आत्मा है। इस प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष होने पर भी लोग उसे भूल रहे हैं।

जो लोग आत्मा को आखों से ही देखना चाहते हैं और आँखों से देखे बिना नहीं मानना चाहते, उन्हे एक घटना सुनाना चाहता हूँ। उदयपुर में एक वकील ने मुझसे प्रश्न किया—आत्मा कहा है, मुझे प्रत्यक्ष दिखलाइए? तब मैंने उनसे पूछा—आप अग्रेजी तो पढे हैं? वकील ने कहा—हाँ।

तब मैंने कहा—वह अंग्रेजी कहा है? मुझे जरा बतलाइये तो सही? वकील हँस पडे और बोले—अंग्रेजी बाहर निकाल कर कैसे बताई जाय?।

मैंने कहा—अगर अंग्रेजी बाहर निकाल कर नहीं दिखलाई जा सकती तो जो अंग्रेजी की पढ़ाई का स्वामी है, उसे कैसे दिखलाया जाय?

सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु को आखों से देखने का आग्रह रखना उचित नहीं है। आख से न दिखने पर भी आत्मा का अस्तित्व है। अगर

आत्मा की सत्ता न मानी जाय तो आगे चल कर पश्चाताप करना पड़ेगा और राजा श्रेणिक की तरह अपना अपराध स्वीकार करना पड़ेगा।

राजा कहता है—मुनिवर! आपने मुझे आत्मा का भान कराया है और सनाथ-अनाथ का भेद समझाया है। अतएव आप ही जगत् के नाथ हैं।

मुनि का उपदेश सुनने के पश्चात् किस प्रकार राजा के हृदय में परिवर्तन हुआ, इसका कोई इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है, मगर इतिहास तो हम स्वयं ही हैं। इस उपदेश के आधार पर जब हम समझने लगेंगे कि संसार की वस्तुएँ हमें अनाथ बनाने वाली हैं, तब पता चलेगा कि मुनि का उपदेश सुनकर राजा का हृदय किस प्रकार परिवर्त्तित हो गया होगा। आप भी मुनि के उपदेश को अपने हृदय में उतारो; तभी राजा के हृदय परिवर्तन की बात आपकी समझ में आ सकेगी, अन्यथा नहीं।

राजा श्रेणिक वीर था। इसी कारण मुनि का उपदेश सुनकर उसके हृदय में जो विचार उत्पन्न हुए, उन्हें चिनगारी के रूप में बाहर निकाल रहा है। वह अपने विचारों को दबा नहीं रहा है। कायर अपने विचारों को दबा रखता है। प्रायः लोगों में ऐसी कायरता होती है कि वे अपनी भूल को समझ कर भी दबाये रहते हैं। ऐसा करके वे अपना अहित करते हैं और साथ ही दूसरों का भी अहित करते हैं। अतएव जब आपको अपनी भूल मालूम हो तो उसे तत्काल प्रकट कर दो, जिससे लोग समझ जाएँ कि ऐसा करना या ऐसा मानना भूल है। भूल को प्रकट कर देने से अपना भी हित होता है और दूसरों का भी।

राजा श्रेणिक का अनुकरण करके तुम अपने भूतकाल को देखो और किये हुए पापों को धो डालो। इसी में आपका कल्याण है।

राजा ने मुनि के समक्ष अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना की। मुनि तो राजा को अपराधी समझते ही नहीं थे। अपराधी समझते होते तो उपदेश ही क्यों सुनाते? परन्तु जो दूसरों को अपराधी नहीं समझते; उनके भक्त, उनके क्षमाभाव से अपने ऊपर अधिक भार अनुभव करते हैं और विचार करते हैं कि हम कब और कैसे इनके ऋण से मुक्त हो सकेंगे?

अपराध की क्षमायाचना करता हुआ राजा श्रेणिक अपना अपराध प्रकट करता हुआ कहता है—मुनिवर! आप समाधि में बैठकर ध्यान में मग्न हो रहे थे, तब मैंने यह तुच्छ-सा प्रश्न किया कि—आपने दीक्षा क्यों धारण की? मुझे आपका ध्यान भंग करने का और यह प्रश्न पूछने का क्या अधिकार था? अधिकार न होने पर भी मैंने आपका ध्यान भंग किया। यह मेरा अपराध है और इस अपराध के लिए मुझे क्षमा कीजिए।

क्या प्रश्न पूछना भी अपराध है? नहीं तो राजा क्यों क्षमा माँग रहा है? राजा प्रश्न पूछना और ध्यान भंग करना अपना अपराध मान कर अपनी असीम नम्रता का परिचय दे रहा है। वह कहता है—मेरा प्रश्न तुच्छ था और आपका ध्यान महान् था। मैंने तुच्छ-से काम के लिए महान् कार्य की हानि की है। यह मेरा अपराध है। इस प्रकार कहकर राजा, मुनि के उपकार की गुरुता प्रकट करता है। इस उपकार का रहस्य तो कोई ज्ञानी ही बता सकता है, फिर भी मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उसे समझाने का प्रयत्न करता हूँ।

कल्पना कीजिए, एक बालक है। उसका पिता डाक्टर, वकील या बड़ा न्यायाधीश है। पिता किसी महत्त्वपूर्ण काम में संलग्न था कि उसी समय बालक रोने लगा। पिता बालक के रुदन को सुन न सका। वह अपने महत्त्व के कार्य को छोड़कर बालक के पास आया और उसे पुचकार

कर शान्त किया। इस बालक पर पिता का उपकार है या नहीं ? बालक कृतज्ञ होगा तो पिता के महान् उपकार को स्वीकार करेगा। माता-पिता के उपकार को एक बालपोथी में इस प्रकार प्रकट किया गया है:—

टगमग पग टगतां नहीं, खाय न सकतो खाद,
चालि न सकतो आपथी, लेश हती नहि लाज।
ते अवसर आणी दया, बालक ने मां-बाप,
पाले पोपे प्रेम थी, ते उपकार अमाप॥
कोई करे एवे समय, वे घड़ी एक बरदास,
आखी उंमर थई रहे, ते नरनो नर दास॥

माता-पिता का उपकार इतना महान् है। क्या यह उपकार भुलाया जा सकता है ? मगर आज माता-पिता का उपकार किस प्रकार माना जाता है और किस प्रकार नहीं, इसका वर्णन किया जाय तो बात बहुत लम्बी हो जाएगी। आज की शिक्षा माता-पिता के उपकार को भुलाने वाली है और माता-पिता के उपकार को भुलाने वाली शिक्षा को शिक्षा कैसे कहा जा सकता है ? माता-पिता आजकल बालकों की शिक्षा पर होने वाला भारी खर्च उठाते हैं और उन्हें पढ़ाते हैं, परन्तु आज के सुधरे लड़के अर्धनग्न पोशाक में कॉलेज से निकल कर माता-पिता को बुड्ढा, बुद्धिहीन और गये-बीते जमाने के मानने लगते हैं। भला यह भी कोई शिक्षा है ? जैनशास्त्र माता-पिता को बहुत महत्त्व देते हैं। इस विषय में कहा है—
'देवगुरु जणस काश।'

अर्थात्—माता-पिता देव-गुरु के समान हैं।

इस प्रकार शास्त्र तो माता-पिता का इतना महत्त्व प्रकट करते हैं, पर आज के छोकरे उनकी अवहेलना करते हैं। ऐसे छोकरे लायक बने हैं या

नालायक, यह बात तो साधु सगति करने से ही जानी जा सकती है।

सुनते हैं, विलायत में बाप बेटे के घर जाय तो उसे होटल में ठहराया जाता है। अपने पिता को अपने घर में स्थान नहीं दिया जाता। खाने-पीने की व्यवस्था भी होटल में ही कर दी जाती है और होटल का बिल बेटा चुका दे तो उसकी कृपा ही समझिए? पिता पुत्र पर कोई दबाव नहीं डाल सकता। गनीमत है कि अभी भारतवर्ष में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है। भारत आर्य देश है। यहा माता-पिता को बहुत ऊंची दृष्टि से देखने की परम्परा है; किन्तु अब पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव यहा भी पड़ने लगा है।

भारत की परम्परा पहले कैसी थी कि राजा श्रेणिक ध्यानभंग करने में और प्रश्न पूछने में भी अपराध समझ रहा है और उसके लिए क्षमा माग रहा है! और आज माता पिता का उपकार मानने के बदले उनकी अवज्ञा की जाती है! मा बाप हजारों खर्च करके और स्वयं गरीब बन कर अपने पुत्रों को पढाते हैं, मगर इतने खर्च के बाद वे क्या पढ़ते हैं? ऐसी शिक्षा वास्तव में कुशिक्षा है। सच्ची शिक्षा के संबंध में कहा है—

सा विद्या या विमुक्तये।

सच्ची शिक्षा वह है जो सब प्रकार के बन्धनों को तोड़ दे। मगर आज तो विद्या के नाम पर उलटा बन्धनों में जकड़ना सीखा जाता है।

हा तो वह वकील पिता, पुत्र का रुदन सुन कर अपने महत्त्व के कार्य को छोड़ कर भी बालक के पास गया और उसे शान्त किया। अब देखना चाहिए कि पिता का यह कार्य बालक के लिए उपकारक हुआ या नहीं?

इसी प्रकार कोई महात्मा, ध्यान का महत्वपूर्ण काम छोड़ कर किसी के मन का संशय दूर करे और धर्मबोध दे तो उसका उपकार होगा या नहीं?

राजा श्रेणिक ने मुनि को भोगोपभोग के लिए आमंत्रण देकर क्या

अपराध किया था ? वह तो मुनि को सब प्रकार की सुख सुविधाएं देना चाहता था। फिर उसका अपराध क्या हुआ ?

इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि अगर आप इस बात को भली-भाति समझ ले तो देव गुरु संबंधी बहुत-सी बातो का निपटारा आप ही आप हो जाय। राजा ने मुनि को भोगों के लिए आमन्त्रण दिया, इसमें आप राजा का अपराध समझते हैं तो आप को अपने खुद के सबंध में भी विचार करना चाहिए। कहीं आप हम साधुओं को इसी प्रकार संसार की झंझटों में तो नहीं डालते हैं ? आपने या आपके पूर्वजों ने इस झंझट में डाला है, जिससे साधुओं का ह्रास हो गया है। उदाहरणार्थ—साधुओं से कहा जाता है कि—कुछ भी हो, हमें तो धन प्राप्ति का उपाय बतलाइए या ऑक बताइए। आप दयालु हैं, हम पर दया करके तेजी-मन्दी बतला दीजिए। बहुत जगह इस प्रकार तेजी-मन्दी बतलाने वाले वेषधारियों को भी सब प्रकार की सुविधाएं दी जाती हैं, परन्तु यह सुविधाएं साधुत्व की मर्यादा से बाहर हैं। अतएव यदि आप राजा के आमन्त्रण को अपराध मानते हैं तो आपको भी ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे साधुओं की साधना का ह्रास हो।

राजा कहता है—मुनिनाथ ! मैं आप जैसे सनाथ को अनाथ बनाना चाहता था। मैं भोग का कीड़ा आप को भी भोगों की गंदगी में गिराना चाहता था। अज्ञान के कारण मैंने आपका अपराध किया है। मुझे क्षमा कीजिए।

राजा ने अनजान में अपराध किया था परन्तु आप जान-बूझ कर तो ऐसा अपराध नहीं करते ? आप समझ-बूझ कर ऐसा अपराध मत करो और कोई साधु ऐसे पाप मे पड़ रहा हो तो उससे कहो कि हम आपके

निमित्त से संसार तिरने की आशा रखते हैं और इसी आशा से आपके पास आते हैं। अगर आप इस प्रकार पतित हो जाएँगे अथवा हम आपको सांसारिक कामों मे फंसा देंगे तो फिर हम कहाँ जाएंगे ?

तुम्हारे गुरु निर्ग्रन्थ हैं और तुम्हारे देव भी निर्ग्रन्थ हैं। आप निर्ग्रन्थ-धर्म से विरुद्ध अपने देव-गुरु को भोगी बनाना चाहेंगे तो यह कितना गुरुत्तर अपराध होगा ? इसीलिए मैं यह कहता हूँ कि अगर आप इस गाथा का वास्तविक अर्थ समझ लें तो आपको सच्चे देव-गुरु का और सच्चे धर्म का साक्षात्कार अवश्य होगा। तराजू में एक डंडी और दो पलडे होते हैं, पर खूबी तो डंडी में ही होती है! इसी प्रकार धर्म और देव पलडों के समान हैं और गुरु डंडी के समान हैं। गुरु सच्चे न हों तो वे सच्चे धर्म और सच्चे देव का पता ही न लगने दें। जो गुरु अनाथ मुनि की तरह सनाथ होंगे, वही सच्चे देव और सच्चे धर्म का परिचय दे सकेंगे।

यह तो श्रावक-श्राविका संबन्धी बात हुई। साधुओं को भी समझ लेना चाहिए कि अगर हम भोग के त्यागी बन कर फिर भोग में लिप्त हो जाएंगे तो हमारा पतन हो जायगा। राजा श्रेणिक वीर क्षत्रिय था; वह कह कर रह जाने वाला नहीं था। मुनि अगर राजा के साथ चले जाते तो वह हर प्रकार की सुविधा कर देता और जीवनपर्यन्त उनका भरण-पोषण करता। परन्तु मुनि ने राजा का आमन्त्रण स्वीकार नहीं किया और कहा—'तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ कैसे बन सकता है ?' अनाथ मुनि जैसी भावना रखना अपना भी कर्तव्य है। अगर हम इस बात को भूल कर भोगोपभोग में पड़ जाएं तो अपनी हानि तो करेंगे ही, साथ में दूसरों की भी हानि करेंगे। साधारण मनुष्य की भूल तो उसकी ही हानि करती है, परन्तु महान् लोगों की भूल इतनी भयंकर होती है कि सारे समाज में अनेकों को

हानि पहुँचाती है। साधारणतया दुराचारिणी स्त्रियाँ तो अनेक होंगी, परन्तु कृष्ण ने द्रौपदी की, कर्ण की अभिलाषा करने की साधारण भूल भी दूर की। क्योंकि वे जानते थे कि द्रौपदी सती कहलाती है। सती की साधारण भूल भी भयंकर है, महान् अनर्थकारी है। इस प्रकार साधुओं की भूल भी भयंकर गिनी जाती है; अतएव हमें भूल नहीं करनी चाहिए।

भगवान् अनाथ मुनि के उपदेश से राजा के अन्तःकरण में जो परिवर्तन हुआ, वह भाव-दया है। इस भाव-दया के कारण राजा को कितना लाभ हुआ होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन है। इस भाव-दया का मूल सब जीवों के प्रति अनुकम्पा रखना है। अनुकम्पा क्या है, इस संबन्ध मे कहा है—

अनुकूलं कम्पनं चेष्टनम्—इत्यनुकम्पा।

अर्थात्—दूसरों के दुःख को अपना ही दुःख समझ कर दूर करना अनुकम्पा कहलाता है।

अमेरिका के एक न्यायाधीश के विषय में सुना है—उसने एक सूअर को कीचड़ में फँसा और तड़फड़ाते देखा। न्यायाधीश को दया आ गई। सूअर को कीचड से बाहर निकाला। बाहर निकालते समय उसके मूल्यवान् कपडे कीचड़ से भर गये। यह देख उसके गाड़ीवान् (ड्राईवर) ने कहा—साहब, आपने मुझसे क्यों न कह दिया ? मैं सूअर को निकाल देता। न्यायाधीश ने उत्तर दिया—मैं तुम्हें सौंपता तो यह भाड़े का काम हो जाता, मैंने दूसरे का नहीं, अपना ही काम किया है। सूअर को दुखी देख कर मुझे दुख हुआ। अतएव सूअर का दुःख दूर करके मैंने अपना ही दुःख दूर किया है, अब उसे प्रसन्न देख कर मेरा हृदय भी प्रसन्न हो रहा है।

लोग फोटो उतरवाने के लिए भाड़े के गहने भी पहनते हैं। किन्तु

इस प्रकार उतरवाया हुआ फोटो सच्चा फोटो नहीं है। दूसरों के दुख को दूर करके, उन्हें सुखी बनाकर सदा के लिए अपने आदर्श की छाप दूसरों के हृदय पर अंकित कर देना सच्चा फोटो उतरवाना है।

अमेरिका का न्यायाधीश सूअर की दया के लिए इतना करे और भारत के श्रावक अपने घर के लोगों पर भी दया न करें, यह कितना अनुचित है? अतएव आप अधिक कुछ न कर सकें तो कम से कम अपने परिवार के लोगों पर तो दयाभाव रक्खें।

मुनि का उपदेश सुनकर राजा श्रेणिक जहा सनाथता देख रहा था वहा अनाथता देखने लगा और जहा अनाथता देख रहा था वहा सनाथता देखने लगा। पहले वह मुनि को अनाथ समझ कर उनका नाथ बनने को तैयार हुआ था, किन्तु जब उसका अज्ञान हटा और हृदय निर्मल हो गया तो कहने लगा—'मुनिवर! आप ही सनाथ हैं। और आप ही प्राणी मात्र के स्वामी हैं।'

गुरु को पहचानने का साधन सनाथता ही है। जिन जड़ वस्तुओं के प्रति ममता रक्खी जाती है, वे अनाथता बढ़ाने वाली हैं। अतएव जड़ वस्तुओं पर ममता रखने वाला गुरु बनने का अधिकारी ही नहीं है। जिसने समस्त सासारिक वस्तुओं सबंधी ममता को जीत लिया है, वही गुरु बनने योग्य होता है।

३६ अंक लिखने में ३ और ६ की सख्या को एक दूसरे से उलटा रखना पड़ता है। इसी प्रकार मुनि-महात्माओं में सनाथ वही है जो सासारिक पदार्थों से विमुख हो। सनाथ बनने की अभिलाषा करना और सासारिक पदार्थों पर ममता भी रखना, यह दोनों बातें एक साथ नहीं बन सकतीं। जब तक संसार का ममत्व नहीं छूटता और पुद्गलों का ममत्व बना है,

तब तक आत्मा अनाथ ही है; सनाथ नहीं।

जो दूसरों की वस्तु पर निगाह रखता है, उसे लेता है या लेने की इच्छा करता है, वह संसार में चोर या उठाईगीर कहलाता है। इसी प्रकार निश्चय में भी परवस्तु पर ममत्व रखने वाला अनाथ है, सनाथ नहीं।

कहा जा सकता है कि सांसारिक पदार्थों से ममता हटाना तो उचित है, किन्तु एकदम न हट सके तो क्या करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी जन कहते हैं—एकदम ममता न त्याग सको तो इतना तो अवश्य समझ लो और स्वीकार कर लो कि संसार के पदार्थ अनाथता में डालने वाले हैं, सनाथ बनाने वाले नहीं। इस प्रकार की श्रद्धा रखकर यथाशक्ति महापुरुषों के चरणचिह्नों पर चलोगे तो भी आपका कल्याण होगा। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि रेल के डिब्बों में पावर नहीं होता; पावर तो एंजिन में ही होता है। परन्तु डिब्बे जब सांकल के द्वारा एंजिन के साथ जुड़ जाते हैं तो यथास्थान पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार संसार के पदार्थों का त्याग करके स्वयं सनाथ न बनने पर भी जो सनाथ बने हैं, उनकी आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेने से किसी दिन आप भी सनाथ बन जाएंगे। शास्त्र में कहा है:—

दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइ॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—पूर्ण प्रीति के साथ, सद्बुद्धि और निस्पृहता से दान देने वाला दुर्लभ है और शुद्ध निस्पृहभाव से संयम का पालन करने के लिए दान लेने वाला भी दुर्लभ है। यद्यपि ऐसा दाता और ऐसा पात्र मिलना दुर्लभ है, तथापि दोनों मिल जाएँ तो

उनकी सद्गति होती है। अतएव स्वयं सनाथ नहीं बन सकते तो जो महात्मा सनाथ बने हैं, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ लो। इसी में कल्याण है।

राजा कहता है—हे मुनिराज, मैं, आपका अनुशासन आपकी शिक्षा—इच्छता हूँ—स्वीकार करता हूँ। यह बात नहीं है, कि मैं आपकी शिक्षा को आपके प्रभाव से प्रभावित होकर, या आपको प्रसन्न करने के लिए, या स्वीकार न करने पर आप नाराज होंगे, इसलिए स्वीकार करता होऊँ; किन्तु आपके उपदेश का मनन करके, उसे अच्छा समझ कर स्वीकार करता हूँ। मुझे, यह तो भय ही नहीं है, कि आपकी शिक्षा स्वीकार न करने पर, आप नाराज हो जावेंगे। मैंने, जब आपको भोगों के लिए आमन्त्रित किया और आपको मृषावादी ठहराया, उस समय भी आप रुष्ट नहीं हुए, तो आपका उपदेश न मानने पर, आप रुष्ट क्यों होंगे? इसी प्रकार, आपका उपदेश मान लेने से, आपको असाधारण प्रसन्नता भी न होगी। क्योंकि मैंने जब आपके रूप सौन्दर्य की प्रशंसा की, तब आप पर मेरे कथन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और आपने मुझे, अनाथ कह ही तो दिया। इसलिए आपकी प्रसन्नता अप्रसन्नता को दृष्टि में रख कर, मैं आपका उपदेश स्वीकार नहीं कर रहा हूँ, किन्तु आपके उपदेश ने, मेरे हृदय को पलट दिया, मेरी उलटी समझ मिटा दी, इसलिए मैं आपके उपदेश को स्वीकारता एवं हृदय में धारण करता हूँ।

हे महाभाग! आप, मेरे अपराध क्षमा करो यद्यपि आप क्षमावान् हैं और मेरे अपराधों पर ध्यान न देकर, मुझ पर दया ही करते रहे हैं। मेरे अपराधों के बदले में, आपने मुझ पर क्रोध नहीं किया, न रुष्ट ही हुए, और न बुरा ही माना, किन्तु मुझे दयनीय मानकर, मुझे अनाथ-सनाथ का स्वरूप समझाया और मेरा भ्रम तथा अज्ञान मिटा दिया। फिर भी, यदि

मैं अपने अपराधो को आपसे क्षमा न कराऊँ, अब भी मैं अपने अपराधों को न समझ सकूँ, तो यह मेरी महान् कृतघ्नता एव मूर्खता होगी। सब से पहले तो मैंने आपके ध्यान में विघ्न किया, और आपसे यह पूछ कर आपकी असातना की, कि इस भोग के योग्य अवस्था में, आपने दीक्षा क्यों ले ली? यद्यपि मैंने, यह प्रश्न अज्ञानवश किया था, क्योंकि, उस समय तक मैं, इस अवस्था को भोग के ही योग्य समझता था, फिर भी वास्तविक बात को समझने से पूर्व ऐसा प्रश्न करना, अपराध है। मैंने आपके ध्यान में भी विघ्न किया और आपसे प्रश्न भी ऐसा किया, कि जिससे आपकी असातना हुई। यह, मेरा अपराध आप क्षमा करें।

हे महाभाग! मेरा दूसरा अपराध यह है, कि मै आपका नाथ बनने को तैयार हुआ और आपको, साँसारिक भोग भोगने के लिए आमन्त्रित किया। यह अपराध भी, मुझ से अज्ञानवश ही हुआ है। अज्ञान से ही मैंने, आप ऐसे त्यागी को, साँसारिक भोगों के लिए आमन्त्रित किया था। आप, मेरा यह अपराध भी क्षमा करें।

साँसारिक भोगों के त्यागी मुनि को, राजा श्रेणिक ने, भोग भोगने के लिए आमन्त्रित ही किया था। इस आमन्त्रण को भी, राजा श्रेणिक अपना अपराध मान रहा है और उसे क्षमा करा रहा है। ऐसी दशा में त्यागियों के लिए भोग सामग्री जुटाना उन्हें भोगी बनाना, या भोगी बनाने की चेष्टा करना, क्या अपराध नहीं है? अवश्य ही अपराध है।

राजा श्रेणिक कहता है—हे महामुनि, मेरा तीसरा अपराध यह है, कि मैंने आपके कथन को मिथ्या कह कर, आपके महाव्रत को दूषित बताया। यद्यपि, आपने मुझे अनाथ ठीक ही कहा था, लेकिन मैं अनाथ हूँ और जिन्हें मैं, सचमुच अनाथ समझ रहा था, वे आप सनाथ हैं, यह बात मेरी

समझ में, आपका उपदेश सुनने पर ही आई। मैंने अज्ञानवश आपकी असातना की, इसके लिए, मैं आप से क्षमा प्रार्थना करता हूँ। आप, क्षमा करें। यद्यपि आप सन्त हैं; आपके समीप कोई अपराधी या उपकारी तो है ही नहीं। चाहे कोई आपकी निन्दा करे या प्रशंसा, आपकी अवज्ञा करे या वन्दना, आप सभी पर समान कृपा रखते हैं। यह सन्तों का स्वाभाविक लक्षण ही है। फिर भी, मैं अपने आत्मा को हलका करने के लिए अपने हृदय को शुद्ध बनाने के लिए और अपने पापों से निवर्तने के लिए आपसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। आप, मुझे क्षमा प्रदान करें।

एवं थुणित्ताण स रायसीहो,
अणगारसीहं परमाइ भत्तीए।
सओरोहो सपरियणो सबंधवो,
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥५८॥

अर्थ—राजसिंह (श्रेणिक राजा) इस प्रकार परम भक्ति के साथ मुनिसिंह की स्तुति करके, निर्मल चित्त से, बन्धु-बान्धवों और अन्तःपुर सहित धर्मानुरागी हुआ।

व्याख्यानः—राजा श्रेणिक मुनिराज के मुखारविंद से धर्म बोध पाकर और क्षमायाचना करके अपने घर गया और ठाठ के साथ अपने बन्धु-बान्धवों और रानियों के साथ पुनः मुनि के पास आकर क्षमा-प्रार्थना की। वह धर्म का अनुरागी हो गया। मुनि ने जिस सम्पदा को मुक्ति की अवरोधक बतलाया था, उसी सम्पदा को लेकर राजा श्रेणिक मुनि से क्षमा-भ्यर्थना करने आया। राजाओं में सिंह के समान श्रेणिक राजा ने अनगार-सिंह अनाथ मुनि से क्षमा माँगी।

राजा श्रेणिक राजसिंह था और अनाथ मुनि अनगारसिंह थे। शास्त्रकार दोनों को सिंह की उपमा देते हैं। कहा जा सकता है कि सिंह पशु है, फिर राजा और मुनि को किस अभिप्राय से सिंह की उपमा दी गई है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए विचार करना होगा कि सिंह में क्या विशेषता है? और सिंह तथा श्वान में क्या अन्तर है? बहुत-से कुत्ते आकार प्रकार में सिंह के समान दिखाई देते हैं। उनका सिंह जैसा रंग, सिंह जैसा शरीर, सिंह जैसी मूंछ और सिंह जैसी पूंछ होती है। उनके दांत भी सिंह जैसे लम्बे ही होते हैं। इस प्रकार बहुत-सी समानताएँ होने पर भी वह श्वान क्या सिंह का स्थान ले सकता है? जब तक कुत्ता भौंके नहीं तब तक भले वह सिंह के समान जान पड़े, मगर जब भौंकता है तो सिंह के समान गर्जना नहीं कर सकता। जब वह भौं भौं करके भौंकता है, तब प्रकट हो जाता है कि यह सिंह नहीं कुत्ता है।

इस प्रकार बाहरी दिखावे से कोई कुत्ता भले सिंह के समान दिखाई दे, किन्तु उसकी बोली से पता चल ही जाता है कि यह सिंह नहीं, कुत्ता है। इसी तरह साधु भी बाह्य वेष से कैसा भी क्यों न बन जाय, परन्तु उसके बोलचाल से पता चले बिना नहीं रहता कि यह सनाथ है या अनाथ है?

गांधीजी ने अपने एक लेख में लिखा है कि शब्द के पीछे यदि आत्मा की शक्ति हो तो वह शब्द अवश्य असर करता है। और यदि शब्द के पीछे आत्मा की या त्याग की शक्ति न हो तो शब्द का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

तो श्वान और सिंह में एक अन्तर तो शब्द का है। उनमें दूसरा अन्तर यह है कि कुत्ता को लकड़ी या पत्थर मारा जाय तो वह लकड़ी या पत्थर को पकड़ने दौड़ता है, मारने वाले को नहीं पकड़ता, परन्तु सिंह

लकड़ी या पत्थर को नहीं वरन् मारने वाले को पकड़ता है। सुनते हैं, इसी कारण सिंह पर प्रहार करने वाला मनुष्य उस स्थान से दूर भाग जाता है; अन्यथा सिंह उस स्थान पर पहुँच कर हमला कर देता है। कुत्ता नहीं जानता किन्तु सिंह जानता है कि लकड़ी या पत्थर का क्या दोष है। दोष तो मारने वाले का है।

मनुष्यों में भी श्वानप्रकृति और सिंहप्रकृति के मनुष्य होते हैं। कौन श्वानप्रकृति का और कौन सिंहप्रकृति का है, इसकी पहचान यह है कि सिंहप्रकृति वाला गालियों या मार को न देख कर यह विचार करता है कि इनका उद्भव कहाँ से हुआ ? उदाहरणार्थ—गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते अंगार जब रक्खे गये तो मुनि सिंह के समान बने या श्वान के समान ? वे भलीभाति जानते थे कि बेचारे सोमल की क्या बिसात कि यह मेरे मस्तक पर अंगार रख सके। अंगार रखने वाला तो मेरा अपना आत्मा ही है। सोमल निमित्त मात्र है। उपादान मैं स्वयं हूँ। मैं उपादान को न देखूँ और सिर्फ निमित्त को देखूँ तो मैं भी श्वानवृत्ति वाला बन जाऊँगा। इस प्रकार विचार करके गजसुकुमार मुनि ने न अंगारों को दोष दिया, न अंगार रखने वाले को, वरन् अपनी आत्मा को ही दोषी ठहराया। सिंह का भी यही स्वभाव है। इसी को सिंहवृत्ति कहते हैं। अतएव जो अपनी आत्मा को ही देखता है, परपदार्थों को नहीं देखता, वह मनुष्य सिंह के समान है। इसके विपरीत जो अपने आपको न देखकर परपदार्थों को देखता है और दूसरों को अपराधी ठहराता है, वह श्वान-वृत्ति वाला है। गजसुकुमार मुनि चाहते तो सोमल को भगा सकते थे, अथवा स्वयं भाग सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा किया होता तो शास्त्रकार उनका महिमागान न करते।

श्रावकों के लिए भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। जब देव पिशाच का रूप धारण करके कामदेव को मारने लगा, तब कामदेव ने यह विचार नहीं किया कि—'हे प्रभो! मैं तेरा श्रावक हूं; फिर भी यह पिशाच मुझे कैसा कष्ट दे रहा है।' उसने विचार किया तो यही किया कि—'यह पिशाच मुझसे अपना धर्म त्याग देने के लिए कहता है, किन्तु मैं सिंह का स्वभाव छोड़कर श्वान का स्वभाव कैसे धारण करूँ? इसने धर्म का त्याग किया है, अतएव यह मुझे मारने को तैयार हुआ है, किन्तु मेरा धर्म मुझे शिक्षा देता है कि—मारने वाले को भी क्षमा प्रदान कर।' ऐसा विचार करके कामदेव स्थिर रहा। इसी प्रकार तुम भी स्थिर रह सको तो कदापि हानि नहीं होगी, उलटा गजसुकुमार मुनि की तरह लाभ ही उठाओगे। सिंहवृत्ति वाले बनो, श्वानवृत्ति का त्याग करो।

तुम्हारे हाथ या पैर में छाला क्यों होता है? कदाचित् कहोगे कि रोग के कारण होता है, परन्तु प्रश्न यहीं समाप्त नहीं होता। पुनः यही प्रश्न उठता है कि रोग क्यों होता है? आत्मा की भूल के बिना रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में रोग का अपराध मानने के बदले अपनी आत्मा का ही अपराध क्यों न माना जाय?

जिसे शक्कर (मीठे पेशाब) की बीमारी होती है, उसे मिठास वाली चीजों का सेवन हानि पहुँचाता है। मुझे भी यह बीमारी हुई थी, पर इसका खयाल नहीं था। साधु मिठाई खाने के लिए कहते मैं खा लेता था। उसके परिणामस्वरूप मेरे शरीर में एक छाला हुआ। साधुओं ने उसे फोड़ दिया, पर मिटा नहीं। ज्यों-ज्यों मैं मीठी चीज खाता, रोग बढ़ता ही जाता था। एक डाक्टर ने सलाह दी—छाले का ऑपरेशन करने से आपके शरीर में रक्त की बहुत कमी हो गई है, अतएव आपको

तर पदार्थों का सेवन करना चाहिए। मैंने पूछा—तर चीज कौन-सी? डाक्टर ने कहा—जलेबी, कलाकन्द, रबड़ी आदि। ऐसी बलवर्द्धक वस्तुएँ मैं अधिक नहीं खा सकता था, फिर भी थोडी थोड़ी खाता रहा और रोग बढ़ता रहा।

आखिर जब पता चला कि यह शक्कर की बीमारी है, तब मीठा खाना बिल्कुल बन्द कर दिया। केवल पतली छाछ ही पीने को रही। परन्तु पहले जो रोग बढ चुका था, उसमें किसकी भूल थी? वास्तव में मेरी ही भूल के कारण रोग बढ़ा था।

इसी प्रकार ज्ञानी जन कहते हैं—अपनी ही भूल से सैकड़ों संकट सिर पर आ पड़ते हैं। जैसे रोग उत्पन्न न होने देने के लिए पहले से ही कुपथ्य से बचना चाहिए, उसी प्रकार संकट न उत्पन्न होने देने के लिए बुरे कामों का त्याग करना चाहिए। ज्ञानियों के बताये मार्ग पर चलोगे और अपने डाक्टर आप स्वयं बनोगे तो सिंहवृत्ति आप में आ सकेगी और अन्त में अपना कल्याण कर सकोगे।

राजा उपासक और मुनि उपास्य था। शास्त्रकार ने उपासक और उपास्य दोनों को सिंह कहा है। वास्तव में सिंह की सेवा सिंह ही कर सकता है; दूसरा नहीं कर सकता। जो श्वान होगा वह तो सिंह को देखते ही डर कर भाग जाएगा। जुन्नेर में मैंने देखा था कि कुछ शिकारी लोग एक बाघ को पींजरे में बन्द कर लाये थे। वे दुकान-दुकान पर बाघ को बतला कर पैसे माँगते थे। उस बाघ को देखकर कुत्ते भौंकते थे। मैंने सोचा—बाघ पींजरे में बन्द है, इसी से कुत्ते भौंकने का साहस कर रहे हैं, अन्यथा इन बेचारों की क्या ताकत कि पास भी फटक सकें।

तो सिंह की सेवा सिंह ही कर सकता है। जिसमें सिंह वृत्ति नहीं वह

सिंह की सेवा नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिसमें सिंह के समान स्वभाव होगा, वही निर्ग्रन्थ की सेवा कर सकेगा। जो सांसारिक भावनाओं में रचा-पचा रहता है और सांसारिक लाभ के लिए ही गुरुजी गुरुजी किया करता है, वह निर्ग्रन्थ की सेवा नहीं कर सकता। कदाचित् ऐसे शृगाल-जन साधुओं के सेवक बन भी जाएँ तो साधुओं को विचार करना चाहिए कि कहीं इनके साथ हम भी शृगाल न बन जाएँ।

अगर तुम मुनि-सिंह की सेवा करना चाहते हो तो तुम सिंहवृत्ति वाले बनो। इसी प्रकार हम साधुओं को भी सिंह के समान स्वभाव वाला बनना चाहिए। जो लोग सिंह के समान गृह त्याग कर सिंह के समान ही संयम का पालन करते हैं, वही सनाथ हैं। वही कल्याण के पात्र बनते हैं।

राजा श्रेणिक, उस समय के राजाओं में, सिंह के समान बड़ा माना जाता था। दूसरे राजाओं की अपेक्षा, उसमें, बल, बुद्धि, साहस, धैर्य, आदि सद्गुण भी अधिक थे, राज्य विस्तार भी अधिक था, वैभव-सम्पदा में भी अप्रतिम था। इसी प्रकार वह सत्य बात को स्वीकार करने, या कहने में भी भय या संकोच नहीं करता था। सनाथी मुनि ने, प्रारम्भ में जब उसे अनाथ बताया था तब उसने मुनि से निर्भयता-पूर्वक यह कहा था, कि 'मैं अनाथ कैसे हूँ ? मुनि को, झूठ तो न बोलना चाहिये !' इस प्रकार निर्भयता-पूर्वक बात कहने का साहस, प्रत्येक आदमी में नहीं हो सकता। उस समय तक, वह अपनी बात सत्य समझ रहा था, इसीलिए, मुनि की बात को मिथ्या बताने में, वह किंचित् भी भयभीत नहीं हुआ। इसी प्रकार, जब उसने अनाथता का स्वरूप समझ लिया, तब अपने आपको अनाथ मानने में, सकुचाया भी नहीं। बल्कि, सनाथी मुनि का उपदेश स्वीकार कर लिया।

राजा श्रेणिक ने, पहले तो मुनि के सामने जाते ही उन्हें वन्दन-नमस्कार किया था। पश्चात्, मुनि से अपने प्रश्नों का उत्तर सुन कर उनका उपदेश श्रवण करके जाने के समय भी उसने क्षमा-प्रार्थना की और प्रदक्षिणा एवं वन्दन-नमस्कार किया। यह, साधुओं के समीप जाने आने एवं प्रश्न करने आदि के समय काम में लाई जाने वाली, बहुत साधारण सभ्यता है। इस सभ्यता एवं भक्ति के बिना, किसी सदुपदेश से पूर्णतया लाभ भी नहीं होता।

सनाथी मुनि ने, राजा श्रेणिक को जो उपदेश दिया था, उसमें उन्होंने ऋद्धि-सुख या स्वर्ग का लोभ नहीं बताया था, किन्तु सांसारिक बातों से, पराङ्मुख होने का उपदेश दिया था। फिर भी मुनि का उपदेश सुनकर, उसे अपूर्व हर्ष हुआ। वह, वीर और सत्य का जिज्ञासु था। इसी कारण, मुनि का उपदेश सुनकर, उसने अपना हृदय पलटने मे, किंचित भी देर नहीं की। उसने अपने पूर्व-विचारों को त्याग दिया और मन में किसी प्रकार की मलीनता रखे बिना, निर्मल मन से, सनाथी मुनि द्वारा उपदेशित धर्म का अनुरागी हुआ। सनाथी मुनि के उपदेश द्वारा प्राप्त धर्म से, केवल उसने अकेले ने ही लाभ नहीं लिया, किन्तु अपने साथ ही, रानियों एवं बन्धु-बान्धवों को भी उस धर्म का लाभ दिया। अर्थात्, वह बन्धु-बान्धवों और रानियों सहित धर्म का अनुरागी हुआ।

यद्यपि श्रेणिक का नाम सीधा-सादा था, उसके नाम के पीछे आज-कल की पद्धति के अनुसार 'सिंह' शब्द नहीं जुड़ा था, फिर भी उसमें सिंह के समान गुण थे। इसी कारण उसे 'राज-सिंह' कहा है। इसी प्रकार मुनि का नाम भी सीधा-सादा था, फिर भी सिंह के समान गुण होने के कारण उन्हें 'मुनिसिंह' कहा है।

राजसिंह श्रेणिक के हृदय में मुनिसिंह अनाथमुनि के प्रति परमभक्ति जागृत हुई। परमभक्ति जागृत होने से उसने अपने बान्धवों के साथ मुनि की प्रार्थना की। वह धर्मानुरागी हो गया।

इस संबंध में आई हुई गाथा के उत्तरार्ध में राजा श्रेणिक का परिचय दिया गया है और उसकी विशेषता भी बतलाई गई है। संभवतः राजा श्रेणिक उसी प्रकार अनाथ मुनि की वन्दना के लिए गया, जिस प्रकार राजा प्रदेशी, केशी स्वामी की वन्दना के लिए गया था।

राजा प्रदेशी जब केशी श्रमण को वन्दना-नमस्कार किये बिना ही जाने लगा तो केशी श्रमण ने कहा—राजन्! कोई मनुष्य तुम्हारा महसूल चुराकर चला जाय तो तुम उसका क्या करोगे?

राजा—मैं उसे अपराधी मानकर दंड दूँगा।

मुनि—तो तुमने मेरा उपदेश सुना, मुझसे आढ़े-टेढ़े प्रश्न किये, मैंने तुम्हारी शंकाओं का समाधान किया, फिर भी तुम क्षमायाचना किये बिना ही जा रहे हो! क्या यह तुम्हारा अपराध नहीं है?

क्या केशी मुनि वन्दना-नमस्कार के भूखे थे? क्षमा मँगवाने में अपना बड़प्पन समझते थे? नहीं तो उन्होंने राजा से ऐसा क्यों कहा? वास्तव में वे वन्दना-नमस्कार के भूखे नहीं थे। उन्होंने ऐसा कह कर जगत् को विनय का मार्ग बतलाया है। उन्होंने सिखाया है कि जिनसे प्रश्न पूछा जाय उनसे क्षमायाचना भी करनी चाहिए। यही बोध देने के लिए मुनि ने राजा से यह बात कही है और शास्त्र में इसका उल्लेख किया गया है।

कोई साधारण साधु केशीस्वामी की भांति किसी से ऐसा कहे तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि वे मुनि चार ज्ञानों के धनी थे। साधारण साधु

उनकी बराबरी नहीं कर सकता! वे सब को मार्ग बतलाने वाले थे। उनका बनाया मार्ग राजमार्ग है। परन्तु उस राजमार्ग को बतलाने के लिए उन्होंने जो कुछ किया या कहा, वह कोई साधारण साधु नहीं कर सकता।

केशी स्वामी के कथन के उत्तर मे प्रदेशी राजा ने कहा—महाराज! वास्तव में आपने मुझे वह वस्तु दी है जिसे पाकर मैं नास्तिकता में से निकल कर आस्तिक बन गया हूँ। मेरे अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न हुई है कि मैं अकेला ही आपको क्या वन्दना करूँ, अपने परिवार और अपनी रानियों के साथ आकर आपको वन्दना-नमस्कार करूँ और आपसे क्षमा प्रार्थना करूँ।

मुनि राजा का उत्तर सुनकर फिर कुछ नहीं बोले, मौन रहे। मुनि का यह व्यवहार भी साधुओं के लिए अनुकरणीय है।

राजा ने परिवार सहित आकर मुनि से क्षमायाचना की। राजा ने अकेले ही मुनि को खमा लिया होता तो उसका कल्याण तो अवश्य होता, पर जगत् का कल्याण न होता। जगत् यह बात न जान पाता कि राजा पहले कैसा था और अब कैसा हो गया? जो राजा पहले घोर नास्तिक था, वही जब राजसम्पदा के साथ मुनि को खमाने आया होगा तब न जाने कितने लोगों का हृदय सुधरा होगा! न मालूम कितनों पर धर्म के प्रभाव की छाप लगी होगी! राजा के इस प्रभाव से कितने लोगों का सुधार हुआ, इसका कोई इतिहास नहीं मिलता, किन्तु अनुमान किया जा सकता है कि बहुत-से लोगों का सुधार हुआ होगा।

राजा श्रेणिक भी नीतिज्ञ था। अतएव संभव है, उसने भी प्रदेशी राजा की तरह परिवार के साथ मुनि को खमाया हो और उन्हें वन्दन-

नमस्कार किया हो। सूत्र तो बहुत बातों का संक्षेप में वर्णन करता है। अतएव शास्त्र में संक्षेप में कुछ कहा गया है, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि राजा श्रेणिक भी परिवार सहित मुनि की वन्दना करने आया होगा। राजा के इस कार्य से दूसरों का कितना कल्याण हुआ होगा, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु चेलना के सबंध में यह कहा जा सकता है कि राजा के विचारों में यह परिवर्तन देखकर उसे असीम आनन्द हुआ होगा। चेलना अपने पति को आस्तिक के रूप में देखना चाहती थी। उसे आस्तिक बनाने के लिए वह अनेक बार विचारविनिमय भी करती थी। किन्तु वह राजा का हृदय बदलने मे समर्थ नहीं हो सकी। अब मुनि के अनुग्रह से सहसा राजा का हृदय बदल गया। यह देख कर चेलना रानी को कितना हर्ष हुआ होगा।

रानी चेलना को अपने पति के धर्मात्मा बनने से प्रसन्नता हुई, लेकिन आज की श्राविकाओं को कब और कैसे प्रसन्नता होती है, इसका विचार कीजिए। आज की श्राविकाओं को गहने मिलने से प्रसन्नता होती है या पति के धर्मात्मा बनने से प्रसन्नता होती है? कोई-कोई बहिन ऐसी भी होगी जो पति के धर्म प्रेम को देख कर प्रसन्न होती है, किन्तु कई ऐसी भी होती हैं जो गहने-कपडे के लिए धर्म और कुल का भी त्याग कर देती हैं। वे धर्मात्मा के कुल में जन्म ले करके भी धर्म को भूल जाती हैं और संसार के विलास में पड़ जाती हैं। आज लोग अपनी कन्याओं को प्रेम से कॉलेज में भेजते हैं और आशा करते हैं कि हमारी कन्या सुशिक्षित होकर आएगी; परन्तु यह नहीं देखते कि कॉलेज में पढ़-लिखकर वे धर्म कर्म को तो नहीं भूल रही हैं? कॉलेज की वर्त्तमान शिक्षा धर्म और संस्कृति का नाश करने वाली है या पोषण करने वाली है? जिस शिक्षा से धर्म और संस्कृति

का नाश होता हो, उसे बंद कर देना तुम्हारा कर्त्तव्य है। मैं विद्याभ्यास का विरोध नहीं करता, विद्या के नाम पर होने वाले विलास का विरोध करता हूँ। उसी को रोकने के लिए कहता हूँ। विद्या सच्ची वही है जो बन्धनों से मुक्ति दिलाने में सहायक हो।

गाँधीजी ने विद्यापीठ के विषय में कहा था कि अगर गुड्डा-गुडिया बनाने के लिए ही विद्यापीठ का उद्घाटन करते होओ तो ऐसे विद्यापीठ की आवश्यकता नहीं है। हाँ, सच्चे ग्रामीण पैदा करने के लिए अवश्य विद्यापीठ की आवश्यकता है। उन्होंने नगर-निवासियों को गुड्डा-गुडिया के समान बतलाया था। गुड्डा-गुडिया को गहनों से सजाया जाता है, परन्तु इससे क्या उनमें जीवन आ जाता है? इसी प्रकार कॉलेज की शिक्षा से सच्चा जीवन नहीं आता; विलासवृत्ति का विकास हो जाता है। आज जो युवक कालेजों में शिक्षा लेते हैं, वे कहने लगते हैं—सब बन्धनों को तोड़ फैंकना चाहिए, पुराने कायदों को भङ्ग कर देना चाहिए और नये-नये नियम स्थापित करने चाहिए। परन्तु ऐसे युवकों के गले यह बात उतारना आवश्यक है कि प्राचीन लोगों ने समझ-बूझ कर जो मर्यादाएं बाँधी हैं, उनका उल्लंघन करना उचित नहीं।

हमारे लिए भी अब ग्रामों में जाने का समय आ गया है। जैसे कैदी कारागार में इकट्ठे हो जाते हैं, उसी प्रकार सारे पाप नगरों में इकट्ठे हो गए जान पड़ते हैं। वेश्यागमन, जुआ, चोरी आदि पाप नगरों में ही आ घुसे हैं। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि नगरों में सभी लोग खराब होते हैं। कुछ लोग वहाँ बहुत अच्छे भी होते हैं; फिर भी ग्रामों की अपेक्षा नगरों में पाप का प्राचुर्य है, यह तो निर्विवाद ही है।

जहाँ रोगी ज्यादा होते हैं वहाँ डाक्टरों को भी ज्यादा रहना पड़ता है।

इसी कारण हमें भी नगरों में अधिक रहना पड़ता है। जहाँ पाप की अधिकता है, वहीं धर्म के अधिक उपदेश की आवश्यकता होती है। मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ कि धर्म और संस्कृति के नाश के कारण जितने प्रमाण में बंद हो जाएँ, उतना ही अच्छा है।

राजा के सुधरने से रानी चेलना को असीम आनन्द हुआ होगा और साथ ही दूसरों का भी सुधार हुआ होगा। कहावत है—

महाजनो येन गतः सः पन्थाः।

अर्थात्—बड़े आदमी जिस मार्ग पर चलते हैं, उसी पर साधारण लोग भी चलने लगते हैं। गीता में भी कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

अर्थात्—श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं।

यह सब विचार करके श्रेष्ठ जन अपना आचरण ऐसा रखते हैं, जिससे दूसरे लोगों को उनका अनुकरण करने में कठिनाई प्रतीत न हो। भले श्रेष्ठ पुरुषों को वैसे आचरण की आवश्यकता न हो, फिर भी दूसरों के सामने सद्आदर्श उपस्थित करने के लिए वे अपना आचरण एकदम विवेकपूर्ण रखते हैं।

गाँधीजी मुझसे मिलने के लिए जब यहाँ आये थे, तो मैंने देखा कि उन्होंने एक छोटा-सा पोतिया पहन रक्खा था। उनका वह पोतिया हमारे चोलपट्टा को भी शर्मिन्दा कर रहा था। गाँधी जैसे क्यों ऐसा कपड़ा पहनते हैं? इसलिए कि बहुत-से लोग केवल शौक के लिए कपड़े पहनते हैं और आवश्यकता न होने पर भी इतने ज्यादा ठूँस-ठूँस कर पहनते हैं कि शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है और अन्दर ही अन्दर पसीना टपकने लगता है।

वह पसीना कितनी हानि करता है, इस बात को लोग नहीं देखते। केवल शौक के लिए वे व्यर्थ ही परेशान होते हैं।

सारांश यह है कि साधारण जनसमूह तो श्रेष्ठ गिने जाने वाले लोगों का अनुकरण करना जानता है। उसे स्वयंस्फूर्त विवेक प्रायः नहीं होता। भले-बुरे कार्य का विवेक करने का भार श्रेष्ठ लोगों के माथे होता है। अतएव श्रेष्ठ जनों का कर्त्तव्य है कि वे इस बात पर गहरा विचार करें कि हमें अपना आचरण किस प्रकार का रखना चाहिए। गीता में कहा है कि साधारण लोगों की बुद्धि मे भेद उत्पन्न न करो। आचरण का त्याग कर देने से सामान्य जनता में बुद्धि भेद उत्पन्न हो जाता है। अगर तू विद्वान है तो आदर्श काम करके दिखला। काम को ही छोड़ बैठना और सामायिक-प्रतिक्रमण में क्या रक्खा है, इस प्रकार की बातें कहना उचित नहीं है।

मुनि के उपदेश से राजा श्रेणिक सुधर गया। उसने परिवार के साथ आकर मुनि को वन्दना की। परिवार सहित मुनि को वन्दना करने का आशय यह है कि सब लोग इस आदर्श का अनुसरण करें। अगर आपने इस आदर्श को समझ लिया हो तो आप भी ऐसा ही व्यवहार करो जिसका अनुकरण करने से दूसरों का भी कल्याण हो।

राजा श्रेणिक अनाथ मुनि की प्रार्थना करता है। सिंह की प्रार्थना सिंह ही कर सकता है, शृगाल नहीं। सुना है, सिंह की गर्जना सुन कर बन्दर वृक्ष से नीचे गिर पड़ते हैं। इसी प्रकार मुनि का उपदेश सुनने से सब पापों की निर्जरा हो जाय तो समझना चाहिए कि हमने मुनि की सच्ची प्रार्थना की है।

उस्ससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं।
अभिवंदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ॥५६॥

अर्थ—राजा श्रेणिक को हर्ष से रोमाञ्च हो आया। उसने मुनिराज को प्रदक्षिणा की, मस्तक नमा कर वन्दना की और तत्पश्चात् अपनी जगह चला गया।

व्याख्यानः—आजकल आवर्त्तन के द्वारा ही प्रदक्षिणा की समझ ली जाती है, परन्तु प्रदक्षिणा का महत्त्व कुछ और ही है। विवाह के समय वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा तो सभी करते हैं, परन्तु उसका उद्देश्य बहुत कम लोग समझते होंगे। आज के विवाह प्रायः गुड्डा-गुडिया के विवाह के समान होते हैं और नाच-गान करने एवं आतिश-बाजी छोड़ने में ही विवाह की पूर्णता समझ ली जाती है। किन्तु यह सब तो विवाह के नाम पर की जाने वाली धमाल है। वर कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करके अपने-अपने कर्त्तव्य को समझें और उस कर्त्तव्य का पालन करने की प्रतिज्ञा करें, यह विवाह का आदर्श है। किन्तु विवाह के इस आदर्श के सम्बन्ध में आज प्रायः विचार नहीं किया जाता। याद रखिए, विवाह संसार का मुख्य आधार-पाया-है और उसके चुनने में यदि शिथिलता रक्खी गई तो आगे का कर्त्तव्य पालन कैसे किया जा सकता है?

प्रदक्षिणा करके किया हुआ विवाह हिन्दू रमणी के लिए जीवन-पर्यन्त स्वीकार्य होता है। वह महिला जीवन पर्यन्त विवाह के नियमों का पालन करती है। विवाह के तत्त्व को समझकर विवाह करने वाली महिला स्वप्न में भी दूसरे पति का विचार नहीं करती।

आपकी दृष्टि में सच्चा विवाह किसका है? हिन्दू स्त्री का या अमेरिकनों का? याद रखिए, अमेरिका में ६५ प्रतिशत तलाक हो जाते हैं। भारत की विवाह प्रथा का महत्त्व क्या है, यह बात समझ लेने से पता चल सकता है कि भारतवर्ष और अमेरिका में कितना अन्तर है।

विवाह की यह पद्धति धर्म-कार्य में भी लागू की गई है। जिस प्रकार कन्या वर को पसन्द करती है, उसी प्रकार गुरु को भी पसन्द किया जाता है। और जिस प्रकार अग्नि की प्रदक्षिणा करके पति का वरण किया जाता है, उसी प्रकार गुरु की प्रदक्षिणा करके उनके गुणों का वरण किया जाता है। गुरु मानो अग्निस्वरूप हैं। वेद में महापुरुषों को, यहा तक कि ईश्वर को भी अग्नि के रूप में वर्णित किया गया है और उनको प्रदक्षिणा करना उनके गुणों को वरण करना माना गया है। श्रीदशवैकालिक सूत्र में (६वें अध्याय में) आचार्य का अग्नि रूप में वर्णन किया गया है।

राजा ने जब मुनि को प्रदक्षिणा की तब उसके रोम रोम में हर्ष व्याप्त था। इस कारण उसे रोमाञ्च हो आया। रोमाञ्च होना भी भक्ति का एक चिह्न है। प्रियतम या इष्ट का नाम सुनकर हर्ष या रोमाञ्च न होना भक्ति की अपूर्णता है। शास्त्रकारों ने राजा की भक्ति का परिचय देने के लिए ही यह कहा है कि उसे इतना अधिक हर्ष हुआ कि शरीर के रोंगटे खड़े हो गए!

वीर क्षत्रिय का मस्तक किसी के सामने झुकता नहीं, परन्तु जब भक्ति का आवेग आता है तो स्वतः झुक जाता है। उस समय मस्तक झुकाने में उसे लेश-मात्र भी संकोच नहीं होता। राजा श्रेणिक मुनि की भक्ति के वश में हो गया था, अतएव वह मुनि के चरणों में अपना मस्तक नमाकर नमस्कार करता है!

आप भी मुनियों को वन्दन करते हैं या नहीं? अगर आपका हृदय मानता हो कि यह मुनि वन्दनीय है तो फिर उन्हें वन्दना-नमस्कार करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं रखना चाहिए।

राजा श्रेणिक विधिपूर्वक मुनि को वन्दना करके अपने घर पहुँचा। जरा विचार कीजिए कि जब वह आया था तो किस रूप में आया था और गया तो किस रूप में गया? कोई भूखा आदमी भोजनशाला में जाता है तो किस प्रकार जाता है और भोजन करके लौटता है तो किस प्रकार लौटता है? भोजन करके लौटते समय उसके मुख पर कैसा तेज झलकता है। राजा का चेहरा भी इसी प्रकार चमक रहा था। उसके चेहरे पर अपूर्व प्रसन्नता अठखेलिया कर रही थीं।

आप व्याख्यान सुनने आते हैं, परन्तु व्याख्यान सुनने के पश्चात् यदि आपका चेहरा खिला हुआ मालूम पड़े तो समझना चाहिए कि आपके अन्तःकरण में भक्ति विद्यमान है। व्याख्यान सुनने के अनन्तर भी आपका मुख तेजस्वी न बने तो यह मेरी अपूर्णता है या आपकी? यह कहना कठिन है; फिर भी किसी न किसी की अपूर्णता है अवश्य ही। परोसने वाला और खाने वाला—दोनों अगर ठीक है तो भोजन के बाद तेज न आने का कोई कारण नहीं। किन्तु परोसने वाला बराबर न हो या जीमने वाला ऊंघता हो तो दूसरा कोई क्या कर सकता है? ऐसी स्थिति में तृप्ति कैसे हो सकती है? अतएव आपको और हमको—दोनों को ही सावधान रहना चाहिए। यह सावधानी रखने के लिए ही मैं आपसे कहता हूँ कि उपदेश सुनकर आप मे जो रमणीकता आती है, उसे टिकाये रखना। घर जाकर अरमणीक मत बन जाना। अगर आप सत्कार्य में रमणीक बने रहोगे तो आपका कल्याण होगा।

मुनि के द्वारा सनाथ-अनाथ का सद्बोध पाकर राजा श्रेणिक कितना अधिक प्रसन्न हुआ होगा। जितना हर्ष राज्य, धन या रानिया पाकर भी न हुआ होगा, उतना मुनि का उपदेश सुनकर हुआ होगा। राजा

श्रेणिक को सभी नमस्कार करते थे, किन्तु वही मुनि को नमस्कार कर रहा है और प्रदक्षिणा कर रहा है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उसे राज्य प्राप्ति से भी अधिक प्रसन्नता न हुई होती तो वह ऐसा क्यों करता?

इयरो वि गुणसमिद्धो, तिगुत्तिगुत्तो तिदंडविरओ य।
विहग इव विप्पमुक्को, विहरइ वसुहं विगयमोहं ॥ ६० ॥

अर्थ—गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियों से गुप्त, मन, वचन, काय से किसी को दण्ड न देने वाले, पक्षी की तरह बन्धनमुक्त अनाथ-मुनि भी पृथ्वी पर विचरने लगे।

व्याख्यान:—राजा श्रेणिक के विषय में कथन करके सूत्रकार अब मुनि के विषय में कहते हैं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि—'अन्त भला सो भला और अन्त बुरा सो बुरा।'

इस गाथा में मुनि के समग्र आचार का दिग्दर्शन करा दिया गया है। विस्तार पूर्वक विवेचना करने का समय नहीं है, अतएव संक्षेप में ही इस प्रकार प्रकाश डालना होगा।

दो सिंहों में से एक सिंह—राजा—की बात कह दी। दूसरे सिंह—मुनि—कैसे थे, यह बतलाने के लिए इस गाथा में कहा गया है कि वे गुणसमृद्ध थे। राजा सांसारिक समृद्धि से समृद्ध था और मुनि गुणों की समृद्धि से समृद्ध थे।

उनमें क्या गुण थे? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि वे तीन गुप्तियों से गुप्त थे, अर्थात् मन, वचन, काय के संयम में लीन थे।

अन्य कार्य करना सरल हो सकता है, पर त्रिगुप्ति का पालन करना अत्यन्त ही कठिन है। कोई कहीं भी क्यों न चला जाय, परन्तु मृत्यु से

नहीं बच सकता, इसी प्रकार कोई कहीं भी क्यों न चला जाय, भले विजन वन में या अँधेरी गुफा में ही क्यों न रहे, मगर अन्तरात्मा में रहे हुए शत्रुओं से बचना सभव नहीं है। किन्तु अनाथ मुनि ने तीन गुप्तियों के द्वारा अपनी आत्मा को आन्तरिक शत्रुओं से सुरक्षित बना लिया था। कदाचित् आपको शत्रुओं से बचने का कोई स्थान मिल जाय तो आप बचने का प्रयास नहीं करेंगे? अगर बचना चाहोगे तो मन, वचन, काय द्वारा अपनी आत्मा को भी बचाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? मन, वचन, काय को संयम में लगा देने से आत्मा समस्त आत्मिक शत्रुओं से सुरक्षित बन जाता है।

अनाथ मुनि त्रिगुप्तिगुप्त होने के साथ ही साथ त्रिदण्ड से मुक्त भी थे। आत्मा को तीन तरह से दण्ड भोगना पड़ता है। कहा तो यह जाता है कि आत्मा को परमाधामी देव, वेतरणी नदी या कूटशाल्मली वृक्ष कष्ट देता है; पर शास्त्र कहता है कि जो त्रिदण्ड से दण्डित नहीं है, उसे कोई कष्ट नहीं दे सकता। त्रिदण्ड से विमुक्त आत्मा को दण्डित करने के लिए शक्रेन्द्र का वज्र भी समर्थ नहीं है।

मानसिक दण्ड, वाचिक दण्ड और कायिक दण्ड, इस प्रकार तीन तरह का दण्ड है। आत्मा इन तीन दण्डों से किस प्रकार दण्डित होता है, इस पर गहरा विचार किया जाय तो पता चल सकता है। इस विषय में शास्त्र में कहा है:—

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।

तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरन्ति त्ति कहं पमाओ ? ॥
—श्री उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—'यह तो मेरे पास है, परन्तु यह नहीं है, कड़ा तो हो पर कंठा नहीं है' इस प्रकार के संकल्प विकल्पों द्वारा मन दण्डित होता रहता है। संकल्प करने से ही कामना उत्पन्न होती है। मनुष्य सोचता है कि मैंने यह काम तो कर लिया है, किन्तु यह करना शेष है। परन्तु ज्ञानी जन कहते हैं—अरे भोले, मौत तेरे मस्तक पर मँडरा रही है, कब वह हमला कर देगी और कब तेरी जीवन-रस्सी को काट फैंकेगी, इसका तुझे पता ही नहीं है।

देवभद्र और यशोभद्र ने अपने पिता से कहा—जिस समय चोर धन हरण कर रहे हों और वे जरा सा खँकार करने से भाग सकते हों, उस समय क्या धन का स्वामी पड़ा रह सकता है ? क्या वह चोरों को भगाएगा नहीं ?

पिता ने कहा—उस समय स्वामी अवश्य चोरों को भगाएगा।

पुत्र बोले—तो इसी प्रकार हमारे घर में-शरीर में चोर घुसा है। अतएव हम निश्चिन्त सो नहीं सकते। हम संयम धारण करके उस चोर को भगाएँगे।

हमें इस उदाहरण से शिक्षा लेनी चाहिए। हमारे भीतर जो चोर घुसा है, उसे हमें देखना और पहचानना चाहिए। किन्तु उसे हम देखते नहीं और नाना प्रकार के मंसूबे किया करते हैं। इस कारण हम मन के द्वारा दण्डित होते हैं।

अनाथ मुनि त्रिदण्ड से विमुक्त थे। उन्होंने मन, वचन और काय को

संयम में ले लिया था; अतएव वे मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड से विमुक्त हो चुके थे। ऐसे मुनि एक जगह नहीं बैठे रहते, वरन् जगह-जगह विचरते रहते हैं।

साधु एक स्थान पर न रह कर, निस्पृह होकर विचरण करते हैं। उन्हें एक जगह रखना श्रावकों का धर्म भी नहीं है। अनाथ मुनि के लिए भी शास्त्र में कहा है कि मोह रहित होकर विचरते थे। अनाथ मुनि को ऐसा अहंकार होना सम्भव था कि मगधराज जैसे राजा भी मेरे चरणों में नत-मस्तक होते हैं। पर जो ऐसा अहंकार उनमें उत्पन्न हो जाता तो गजब ही हो जाता।

शास्त्र के वर्णन से ऐसा जान पड़ता है कि मुनि की भक्ति करने से ज्यों-ज्यों राजा को रोमाञ्च होता था, त्यों त्यों मुनि भी मोह से सावधान होते जाते थे कि कहीं मैं मोह में न पड़ जाऊँ। वे निर्मोह होकर पक्षी की तरह पृथ्वी पर विचर रहे थे।

शास्त्र में कहा है कि मुनि पक्षी की भाति विचरते थे। ऐसा कहने का कारण यह है कि पक्षी का आधार निरवलम्ब आकाश होता है। हम पक्षियों को वृक्ष या पृथ्वी पर बैठा देखते हैं, परन्तु वे वृक्ष या पृथ्वी पर तभी तक रहते हैं, जब तक उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता। किसी प्रकार का भय उपस्थित होते ही वे तत्काल अपने पखों की सहायता से आकाश का आश्रय लेते हैं। यह बात एक उदाहरण द्वारा समझिए:—

कल्पना कीजिए, किसी वृक्ष पर एक ओर एक बन्दर बैठा है और दूसरी ओर एक पक्षी बैठा है। किसी आकस्मिक कारण से वृक्ष धराशायी होने लगे तो पक्षी तो आकाश में उड़ जाता है और बेचारा बन्दर वृक्ष के साथ ही नीचे आ गिरता है। पक्षी विचार करता है—जब तक वृक्ष मुझे

आधार दे रहा है, मैं इस पर बैठा हूँ, पर मैं इसी के सहारे नहीं हूँ। मेरा सच्चा बल तो मेरे पंखों में ही है।

इस ससार में रहने वाले ज्ञानी और अज्ञानी में भी पक्षी और बन्दर जितना अन्तर है। अज्ञानी धन, घर तथा कुटुम्ब आदि का आश्रय पकड़ कर बैठा रहता है, किन्तु ज्ञानी जन आत्मा का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

अनाथ मुनि ससार का आश्रय नहीं लेते थे, आत्मा का आश्रय लेते थे। इसी कारण शास्त्र में उनके लिए कहा गया है कि वे पक्षियों की भाति निरवलम्ब होकर विचरते तो थे पृथ्वी पर, किन्तु आत्मा में मग्न होकर विचरते थे। जिस पृथ्वी पर वे विचरते थे, वह भारत की भूमि धन्य है!

इस कथा को समझ कर परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि—'हे प्रभो! जिस प्रकार मुनि मोह विहीन होकर विचरण करते थे, उसी प्रकार मैं भी निर्मोह होकर विचरूँ और मुनि की शरण में जाऊँ।' इस प्रकार की भावना रख कर परमात्मा की प्रार्थना करने से आपका कल्याण होगा।

शास्त्र में अनाथ मुनि का वर्णन श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। पर राजा श्रेणिक का वर्णन शास्त्र में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर कहते हैं—राजा श्रेणिक एक दिन मेरी ही भाति पद्मनाभ नामक तीर्थंकर होंगे, मेरी ही भाति मुक्ति प्राप्त करेंगे, उनकी स्थिति मेरे ही समान होगी। इस प्रकार राजा यद्यपि भोगोप-भोगो का त्याग न कर सका, फिर भी अनाथ मनि की शरण ग्रहण करने के कारण भविष्य में तीर्थंकर का पद प्राप्त करेंगे। आप भी ऐसे मुनि की शरण में जाओगे तो आपका परम कल्याण होगा।

उपसंहार

इस अध्ययन का सार ज्ञान और क्रिया का महत्त्व बतलाना है। अनाथ मुनि जैसे ज्ञानवान् भी थे, वैसे ही क्रियावान् भी थे। कुछ लोग या तो ज्ञान को ही पकड़ बैठते हैं या क्रिया को ही! और फिर उसी को महत्त्व देते हैं। किन्तु ऐसा करना भूल है; क्योंकि ज्ञान ही हो और क्रिया न हो या क्रिया ही हो और ज्ञान न हो तो मनुष्य का पतन होना स्वाभाविक है। सच्चा ज्ञानी क्रिया का त्याग नहीं कर देता, बल्कि दूसरों के सामने आदर्श उपस्थित करने वाली क्रिया करता है। अनाथ मुनि स्वयं कहते हैं—जो संयम धारण करके संयम की क्रिया नहीं करता, वह अनाथ ही है। अतएव ज्ञान के साथ क्रिया की भी आवश्यकता है।

श्री आचारांग सूत्र की निर्युक्ति में ज्ञान और क्रिया का बहुत महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस बात को समझाने के लिए एक उदाहरण देता हूँ। कोई कह सकता है कि यह उदाहरण कहाँ लिखा है? इसका उत्तर यह है कि उदाहरण कहीं लिखा ही हो, यह आवश्यक नहीं। वह कल्पित भी हो सकता है। दृष्टान्त के द्वारा मैं तो अपना भाव ही समझाना चाहता हूँ। अनुयोगद्वार सूत्र में भी निम्नलिखित आशय का कल्पित दृष्टान्त दिया गया है:—

पान झरंता देख के, हँसी जो कूंपलियाँ।
मोय बीती तोय बीतसी, धीरी बापरियाँ॥

पका हुआ पत्ता पेड़ से गिरा तो कौंपलें उस पर हँसने लगीं। कौंपलों की हँसी देखकर वह पत्ता बोला—आज मुझ पर जैसी बीत रही है, कल

तुम पर भी बीतेगी। किसी दिन मैं भी तुम्हारी ही तरह कौंपल के रूप में था। आज मेरी यह दशा हो रही है तो मत समझो कि तुम सदा कौंपल ही बनी रहोगी। तुम्हें भी मेरी स्थिति में आना पडेगा।

इस उदाहरण में विचारणीय बात यह है कि क्या कौंपल भी हँसती है? और पका पत्ता भी कौंपलों से बात कर सकता है? नहीं। फिर भी जगत् की अनित्यता का भाव प्रकट करने के लिए यह कल्पना की गई है। तो दृष्टान्त के विषय में कल्पना करने का भी अधिकार है। हा, मैं समभाव से बाहर की कोई बात कहूँ तो मुझे सूचित करो और यदि समभाव की बात कहूं तो उसे मानो। मै तो यही सोचता हूँ कि हमें अपने ज्ञान का आदान-प्रदान करना है। जो बात तुम नहीं जानते और मैं जानता हूँ, वह तुम मुझसे सीखो, और जो बात आप जानते हैं और मै नहीं जानता, वह बात मै आपसे लूँ। कुछ बातें आप जानते हैं और कुछ मैं जानता हूँ। अतएव परस्पर विचार-विनिमय करना चाहिए।

हॉ, तो आचारागनिर्युक्ति मे ज्ञान और क्रिया का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। इस विषय में एक दृष्टान्त भी दिया गया है, जो इस प्रकार है—

उदयसेन नामक एक राजा था। उसके दो पुत्र थे—वीरसेन और सूरसेन। वीरसेन सब इन्द्रियों से सम्पन्न था और सूरसेन अंधा था। विवेकवान् पुरुष जो जिस योग्य होता है, उसे वही काम सौंपते हैं। उदयसेन ने अपने दोनों पुत्रों को, उनकी योग्यता के अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा दी। अन्धे आदमी गान-कला में प्रायः कुशल होते हैं। सूरदास के विषय में भी कहा जाता है कि वे अन्ध-कवि थे। इस प्रकार उदयसेन ने सूरसेन को संगीत कला की शिक्षा दी और वीरसेन को

क्षत्रियोचित युद्ध कला सिखलाई।

सूरसेन ने सुना कि वीरसेन को क्षत्रियोचित युद्ध कला सिखलाई जाती है। तब उसने सोचा-वह कला मुझे क्यों नहीं सिखलाई जा रही ? मैं कायर ही रह जाऊँगा। इस प्रकार विचार करके वह पिता के पास पहुँचा और कहने लगा—पिताजी ! मैं युद्ध कला सीखना चाहता हूँ।

राजा ने विचार किया—अगर इसका हृदय युद्ध कला सीखने के लिए उत्सुक है तो रोकना उचित नहीं। इसके हृदय की वृत्ति को दबा देना ठीक नहीं होगा। इस प्रकार विचार करके राजा ने उसे युद्ध-कलाचार्य को सौंप दिया। युद्ध कला सिखलाने वाला योग्य और होशियार था। उसने सूरसेन को बाणविद्या सिखला दी। किन्तु अन्धा होने के कारण सूरसेन शब्द के आधार पर ही बाण मार सकता था।

यथासमय दोनों कुमार योग्य हुए। एक बार युद्ध का अवसर आने पर वीरसेन ने अपने पिता से कहा—पिताजी ! आपने हमें योग्य बनाया है और हम योग्य बन भी गये हैं। ऐसी स्थिति मे आपका युद्ध के लिए जाना योग्य नहीं है। आज्ञा दीजिए, मैं जाऊँ।

वीरसेन का यह कथन सुनकर पिता को बहुत प्रसन्नता हुई। वह सोचने लगा—ऐसे अवसर पर पुत्र को घर रखना योग्य नहीं है। फिर वीरसेन से कहा—बेटा, खुशी से युद्ध में जाओ और शत्रुओं के दात खट्टे करो।

सूरसेन भी पिता से कहने लगा—मैं भी युद्ध मे जाऊँगा।

उदयसेन बोला—बेटा, तू नेत्रहीन है। तेरा युद्ध में जाना ठीक नहीं। तू यहीं रह।

पर सूरसेन सोचने लगा—भाई युद्ध मे जाएगा तो उसकी प्रशंसा

होगी और मुझे कोई टके सेर भी नहीं पूछेगा ! यह सोचकर उसने युद्ध में जाने के लिए बहुत हठ पकड़ा ।

सूरसेन का हठ देख राजा ने उसे भी युद्ध में जाने की आज्ञा दे दी । वह भी सेना के साथ युद्ध भूमि में गया । अन्धा होने के कारण वह कुछ देख तो सकता नहीं था, सिर्फ शब्द सुनकर ही बाण चलाता था । जब उसे शब्द सुनाई न देता तब बाण भी नहीं मार सकता था । इससे शत्रु समझ गये कि सूरसेन अन्धा है और शब्द सुने बिना बाण नहीं चला सकता । अतएव उन्होंने युक्ति निकाली कि शब्द किये बिना चुपचाप हमला करके सूरसेन को पकड़ लिया जाय ! आखिर शत्रु अपनी युक्ति में सफल हुए और सूरसेन पकड़ा गया ।

जब वीरसेन को अपने भाई के पकडे जाने का सवाद मिला तो उसने शत्रु सैन्य पर जबर्दस्त प्रहार किया और सूरसेन को छुड़ा भी लाया ।

जब सूरसेन पिता के पास आया तो पिता ने कहा—तू निस्सन्देह पराक्रमी है, पर क्या वीरसेन की बराबरी कर सकता है ?

सूरसेन ने उत्तर दिया—अब मैं समझ गया कि पराक्रम होने पर भी आँख के अभाव में मैं वीरसेन की बराबरी नहीं कर सकता । वीरसेन न आता तो मैं शत्रुओं के पजे में ही पड़ा होता ?

पिता ने कहा—ठीक है । यह उदाहरण ज्ञानियों के काम आएगा ।

इस दृष्टान्त के आधार से श्री आचारागसूत्र की निर्युक्ति में कहा है—

कुणमाणो वि य किरियं, परिच्चयन्तो वि सयणधणभोए ।
दिन्तो वि दुहस्स उर, न जिणइ अन्धो पराणीयं ॥
कुणमाणो अवि निवि, परिच्चयन्तो वि सयणधणभोए ।
दिन्तो वि दुहस्स उर, मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झइ उ ॥

अन्धा बाण फैंकता था; पराक्रम भी दिखला रहा था और स्वेच्छा से युद्ध में गया था, फिर भी शत्रुओं की सेना को जीतने में समर्थ नहीं हो सका। वह उलटा शत्रुओं के बन्धन में पड़ गया, क्योंकि उसमें देखने की शक्ति नहीं थी। इसी प्रकार जिनमें ज्ञान-नेत्र नहीं हैं, वह त्याग भी करता है और स्वजन धन-भोग आदि से विमुख भी रहता है, फिर भी ज्ञान के अभाव में वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। वीरसेन नेत्रवान था, किन्तु यदि वह स्वजन आदि का त्याग करके युद्ध में न गया होता और पराक्रम न दिखलाता तो क्या आँख रहते भी शत्रुओं को जीत सकता था? नहीं। इसी प्रकार जो ज्ञानवान् तो है परन्तु क्रिया नहीं करता, वह भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव क्रिया के साथ ज्ञान की और ज्ञान के साथ क्रिया की आवश्यकता रहती है। कोरे ज्ञान और कोरी क्रिया से कुछ भी नहीं होता।

आप ज्ञानयुक्त क्रिया करेंगे तो आपकी आत्मा का भी कल्याण होगा और रोग आदि से भी मुक्त रहोगे। सिर्फ जान लेना या याद कर लेना किसी काम नहीं आता। ज्ञान के अनुसार क्रिया करने में ही ज्ञान की सफलता है।

आज जो रोग और दुःख उत्पन्न होते हैं, उनका प्रधान कारण ज्ञान-युक्त क्रिया न करना है। कई लोग कहते हैं कि वेदनीय कर्म उदय में आता है तो रोग उत्पन्न हो ही जाते हैं, परन्तु विचारणीय बात तो यह है कि वेदनीय कर्म की क्रिया करता कौन है? आप चाहें तो वेदनीय कर्म को उत्पन्न भी कर सकते हैं और नष्ट भी कर सकते हैं। अतएव एकान्त रूप से वेदनीय कर्म का ही दोष निकालते बैठ रहना उचित नहीं।

श्री स्थानाङ्ग सूत्र में रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाये हैं। भगवान्

महावीर ने कहा है कि—हे जगज्जीवो। मैंने ज्ञान से देखा है कि नौ कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं। इन नौ कारणों के सम्बन्ध में सावधान रहने से रोगों से बचाव हो सकता है।

रोग का पहला कारण अति अशन या अति आसन है। अधिक खाने से भी रोग उत्पन्न होते हैं और एक ही आसन पर शक्ति से अधिक बैठने से भी रोगों की उत्पत्ति होती है। वैद्यों के कथनानुसार भी बहुत बैठने से मस्सा आदि की बीमारी उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार अतिभोजन भी रोग का कारण है। एक उर्दू कवि ठीक ही कहता है—

बिना भूख खाना और रोग को बुलाना।

भूख न होने पर भी खाना या भूख से अधिक खाना रोगोत्पत्ति का मुख्य कारण है। मजदूर रूखी-सूखी रोटी खाते हैं और सेठ लोग माल उड़ाते हैं। परन्तु ज्यादा रोगी कौन होते हैं? श्रीमन्त लोग यों चाहे एक भी पैसा खर्च न करेंगे, पर डाक्टरों का बिल चुकाने के लिए जेब खाली कर देंगे। इसका कारण क्या है?

मेरी बात सुन कर कदाचित् डाक्टर कहेंगे कि महाराज हमारी आजीविका पर कुठाराघात कर रहे हैं, किन्तु इस विचार से सत्य बात को दबाना कैसे सम्भव हो सकता है? वेश्यागमन का त्याग करने का उपदेश देने पर वेश्याएँ भी कह सकती हैं कि हमारे रोजगार को मटियामेट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। शराब का निषेध करने पर कलाल भी यही बात कह सकते हैं! यों तो संसार में कोई न कोई लोग कुछ न कुछ कहते ही रहेंगे, किन्तु इसका विचार करके सत्य एवं तथ्य बात को छिपाया नहीं जा सकता। आशय यह है कि भगवान् के वचनानुसार व्यवहार किया जाय

तो रोगी या दुःखी होने का कोई कारण नहीं।

अतिभोजन रोग का प्रधान कारण है, यह बात आपको सदैव ध्यान में रखनी चाहिए। कितनेक भोजनशूर लोग अधिक खाने के लिए भंग भी पीते हैं, परन्तु इस प्रकार अधिक खाने से अजीर्ण-खाँसी वगैरह रोगों की उत्पत्ति होती है।

रोगों का दूसरा कारण अहित कर आसन पर बैठना है। आसन किस प्रकार का होना चाहिए, इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है कि कठिन और स्थिर आसन पर बैठने से हानि होती है और कोमल आसन पर बैठने से लाभ होता है। आज लोगों को पत्थर के मकान पसन्द आते हैं; किन्तु वे विचार नहीं करते कि पत्थर पर बैठने और मिट्टी पर बैठने में कितना अन्तर है? आज मकान पक्का बनाया जाता है, किन्तु मकान को पक्का बनाना शरीर को कच्चा बनाना है। किस प्रकार की कुरसी पर बैठने से लाभ होता है और किस प्रकार की कुर्सी पर बैठना हानिप्रद है, यह बात अब यूरोपियन भी समझने लगे हैं! परन्तु भारतीय लोग इस सम्बन्ध में न विचार करते हैं, न जानने का प्रयत्न करते हैं किन्तु आँख मीच कर अनुकरण करने लगते हैं।

अधिक सोते पड़े रहना और अधिक जागरण करना भी रोग का कारण है। कई लोग जागरण करने का ढोंग करते हैं, किन्तु शास्त्र के अनुसार अधिक सोना और अधिक जागना हानिकर है।

मल-मूत्र को दबा रखना भी रोग का कारण है। बहुत चलना और बहुत बैठे रहना भी रोग को निमंत्रण देना है।

कुछ जनों का खयाल है कि माँस खाने वाले बलवान् होते हैं और